श्रमण

ŚRAMAṆA

अक्टूबर-दिसम्बर २००३

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

ŚRAMAṆA

अक्टूबर-दिसम्बर २००३

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष ५४ अंक १०-१२ अक्टूबर-दिसम्बर २००३

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ० शिवप्रसाद

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी
पो०ऑ० - बी०एच०यू०,
वाराणसी-२२१००५ (उ०प्र०)
e-mail : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
दूरभाष : ०५४२-२५७५२१

ISSN-0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु० १५०.००
व्यक्तियों के लिए : रु० १००.००
इस अंक का मूल्य : रु० २५.००

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु० १०००.००
व्यक्तियों के लिए : रु० ५००.००

नोट : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल **पार्श्वनाथ विद्यापीठ** के नाम से ही भेजें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

श्रमण अक्टूबर-दिसम्बर २००३ का अंक सम्माननीय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। विभिन्न अप्रत्याशित कारणों से इसे हम समय से प्रस्तुत न कर सके, जिसके लिये पाठकगण क्षमा करने की कृपा करेंगे। पूर्व के अंकों की भांति इस अंक में भी जैन दर्शन, आचार, साहित्य, इतिहास, कला एवं समसामयिक विषयों पर आधारित १५ मौलिक आलेख प्रकाशित हैं। हमारा यही उद्देश्य है कि **श्रमण** में प्रकाशित होने वाले सभी आलेख सुसम्पादित एवं शुद्ध रूप में मुद्रित हों। अपने उद्देश्य की पूर्ति में हम कहां तक सफल हो सके हैं यह निर्णय पाठकगण स्वयं करें और अपनी निष्पक्ष प्रतिक्रिया से हमें अवगत कराने की कृपा करें।

जैन धर्म-दर्शन-साहित्य-इतिहास-कला आदि पक्षों से सम्बद्ध मौलिक एवं अप्रकाशित आलेख हिन्दी, अंग्रेजी एवं गुजराती भाषाओं में प्रकाशनार्थ सादर आमंत्रित हैं।

सम्पादक

दिनांक : १५/३/०४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

अक्टूबर-दिसम्बर २००३

सम्पादकीय

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. जैन दर्शन की द्रव्यदृष्टि एवं पर्यावरणीय नीतिशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध - *डॉ० रामकुमार गुप्त* १-५

२. जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियों के आहार सम्बन्धी नियम - *अंशु श्रीवास्तव* ६-९

३. दिगम्बर जैन जातियाँ : उद्भव एवं विकास - *कुसुम सोगानी* १०-२५

४. सिद्धसेन दिवाकर का जैनदर्शन को अवदान - *डॉ० किरण श्रीवास्तव* २६-३२

५. वनस्पति और जैन आहार शास्त्र - *डॉ० नन्दलाल जैन* ३३-५३

६. आचार्य शंकर की बौद्ध दृष्टि - *अनामिका सिंह* ५४-६०

७. वर्तमान सामाजिक संदर्भ में अध्यात्मवाद की चुनौतियां एवं जैन दृष्टि से उनका समाधान - *डॉ० श्याम किशोर सिंह* ६१-६६

८. जाति व्यवस्था और उसका दायित्व- *डॉ० कमलेश कुमार जैन* ६७-७०

९. गांधी और शाकाहार - *डॉ० शैलबाला शर्मा* ७१-७७

१०. जैनों की नास्तिकता - धर्मनिरपेक्ष समाज का आधार - *डॉ० काकतकर वासुदेव राव* ७८-९२

११. खरतरगच्छ-भावहर्षीयशाखा का इतिहास - *शिवप्रसाद* ९३-९९

१२. जैनों एवं सिक्खों के ऐतिहासिक सम्बन्ध - *श्री महेन्द्र कुमार मस्त* १००-१०२

ENGLISH SECTION

13. **Landmark of Bahubali Images in Karnataka** - *Prof. M.N.P. Tiwari* 103-110

14. **Origin of Sramanism : Causes and Conflict** - *Dr. Niharika* 111-118

15. **Jaina Contribution to Indian Grammar** - *Dr. A.K. Singh* 119-138

१६. विद्यापीठ के प्रांगण में १३९-१४०

१७. जैन जगत् १४१-१४३

१८. साहित्य सत्कार १४४-१४८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शन की द्रव्य-दृष्टि एवं पर्यावरणीय नीतिशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध

डॉ० राम कुमार गुप्त*

जैन-दर्शन में 'द्रव्य' को सद्रूप (सत् द्रव्यम्) प्रतिपादित किया गया है, जिससे न केवल जीव वरन् जगत् की समस्त अन्य वस्तुएँ भी सत्य निरूपित हो जाती हैं। वस्तुत: वे मानते हैं कि जितना निश्चित ज्ञाता का अस्तित्व है, उतना ही निश्चित ज्ञेय का भी है। इससे उनका वस्तुवादी और सापेक्षतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। जैन दर्शन की 'द्रव्य- दृष्टि' विश्वमीमांसा से सम्बन्धित है, जिसमें संसार के समस्त 'सद्रूप-द्रव्य' को सजीव और अजीव के रूप में विभाजित किया गया है।

ध्यातव्य है कि जैन दार्शनिकों ने जीवन के लक्षणों के अवलोकन से 'जीव-द्रव्य' (चेतना लक्षणो जीव:) का प्रतिपादन किया है, न कि व्यष्टि के अस्तित्व के आधारभूत तत्त्व की गवेषणा से। अत: जैन-दर्शन के 'जीव' शब्द को इसी मूल अर्थ में यानी 'प्राणतत्त्व' के अर्थ में ही ग्रहण करना उचित होगा।

जैन-दर्शन के अनुसार सारा संसार अनन्तानन्त असंख्य जीवों से आपूर है। जीव-द्रव्य दो प्रकार के हैं - 'मुक्त' एवं 'बद्ध'। मुक्त-जीव वे हैं जो संसारचक्र से छुटकारा पा चुके हैं। 'बद्ध जीव' वे हैं जो अभी तक बन्धन में हैं। बद्ध जीव भी दो प्रकार के होते हैं - 'त्रस और स्थावर'। 'त्रस जीव' गतिमान होते हैं और उनमें स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत ये पांचों इन्द्रियां रहती हैं और 'स्थावर जीव' में किसी भी प्रकार की गति नहीं होती और स्थावरकायिक जीवों में एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है। त्रस जीवों में चैतन्य का स्वरूप तथा इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है, जैसे - कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, मनुष्य आदि।[१] 'स्थावर जीव' में ऐसे एकेन्द्रिय जीव हैं जो क्षिति, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि में वास करते हैं।[२] यों तो इन जीवों में चैतन्य का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है; लेकिन वस्तुत: इनमें 'स्पर्श-ज्ञान' वर्तमान रहता है। पृथ्वी नामक स्थावर जीव में मूँगा, पाषाण आदि की गणना की जाती है; क्योंकि 'डाभ' के अंकुर के समान काटने पर वे पुन: बढ़ जाते हैं। जल तत्त्व का चिह्न सजीवता और काम जनित अन्य भाव है। जल की सजीवता का प्रमाण यह है कि आकाश

* *वरिष्ठ प्राध्यापक, टी०डी०पी०जी० कालेज; जौनपुर।*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का जल बादल का विकार होने पर स्वत: ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार (अग्नि भी सजीव है; क्योंकि पुरुष के अंग की भाँति आहार आदि के ग्रहण करने से (जठराग्नि) उसमें वृद्धि होती है। वायु को भी सजीव मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है; क्योंकि गौ के समान वह दूसरे से प्रेरित होकर गमन करता है। वनस्पतियों की सजीवता के तो अनेकों प्रमाण हैं। ध्यातव्य है कि 'त्रस जीवों' में 'स्थावर जीवों' की अपेक्षा चेतना की अधिक अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जैन-दर्शन में 'त्रस तथा स्थावर' जीवों के बहुसंख्यक अस्तिकाय 'षड्द्रव्यों' की 'सजीवता' का गंभीर अनुशीलन किया गया है।[३] जो मनुष्य को यह बोध भी कराता है कि उसका अस्तित्व 'स्थावर जीव' द्रव्यों के सम्यक् सहयोग पर भी निर्भर है।

जैन-दर्शन के अनुसार 'जीव द्रव्य' का साधारणत: ज्ञात अस्तित्व द्विविध है जिसमें जीव तथा अजीव दोनों ही तत्त्व अनुस्यूत हैं। अत: 'जीव द्रव्य' के पश्चात् 'अजीव द्रव्य' का विवेचन प्रासंगिक हो जाता है। अजीव का निवास स्थान यह संसार है। यह अजीव द्रव्यों से निर्मित है। उनमें से कुछ अजीव द्रव्य तो शरीर धारण करते हैं; जिन्हें 'अस्तिकाय' (देश में रहने वाला) कहा जाता है; जैसे - धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल। और कुछ बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करते हैं; जो आकार न धारण करने के कारण 'अनस्तिकाय अजीव द्रव्य' कहलाते हैं - जैसे - 'काल'।

जैन-दर्शन में 'जड़तत्त्व' को पुद्गल बतलाया गया है; जिसमें विभाग और संयोग हो सके वह पुद्गल है। मनुष्य के मन,वचन और प्राण पुद्गलों से ही निर्मित हैं। पुद्गल वर्ण, रस, गंध, स्पर्श से युक्त होते हैं। अन्य अजीव द्रव्यों में ये गुण नहीं पाये जाते हैं।

जीव, धर्म, काल, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति आकाश के अन्तर्गत मानी गयी है। आकाश के अभाव में इन द्रव्यों की न तो स्थिति संभव है और न विस्तार ही। इसलिए कहा जाता है कि द्रव्य आकाश को व्याप्त करता है और 'आकाश' 'द्रव्य' द्वारा व्याप्त होता है।

अस्तिकाय द्रव्यों की अवस्था परिवर्तन या परिणाम निरवयव अनस्तिकाय 'काल' के अन्तर्गत ही सम्पन्न होता है। जैन-दर्शन में 'धर्म' और 'अधर्म' को परम्परागत 'पुण्य' और 'पाप' के अर्थ में ग्रहण न करके 'गति' और 'विश्राम' के अर्थ में स्वीकार किया गया है; जो त्रस जीवों के अस्तित्व के लिए स्थावर जीवों के माध्यम से सहायक बनते हैं।

ध्यातत्व है कि जैन-दर्शन की 'द्रव्य-दृष्टि' में केवल मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों में ही जीवन नहीं है; वरन् पेड़-पौधों तथा धूल-कणों में भी जीवन है; जिससे उनका 'द्रव्य' अनुशीलन आज भी प्रासंगिक है; क्योंकि आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी धूल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कणों तथा अन्यान्य भौतिक पदार्थों में भी 'जीवाणु' पाये जाते हैं। यद्यपि सभी जीव समान प्रकार से चेतन नहीं हैं; तथापि 'स्थावर' और 'अजीव' द्रव्यों के अभाव में मानव जीवन 'आकाश-पुष्प' की भाँति होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन धर्म ने कम से कम २५०० वर्ष पूर्व ही वनस्पति जगत् में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया था आज विज्ञान ने उसे पुष्ट कर दिया है। **आचारांग, सूत्रकृतांग, दश वैकालिक, मूलाचार, भगवती आराधना** आदि समस्त जैन ग्रंथों में षड्कायिक जीवों की हिंसा से विरत रहने का उपदेश दिया गया है।

जैन-दर्शन की 'द्रव्य-दृष्टि' और 'पर्यावरणीय नीतिशास्त्र' में गहरा सम्बन्ध है, पर्यावरणीय नीतिशास्त्र समाजशास्त्र से जुड़ा हुआ है और समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृतत्व विज्ञान, शिक्षा शास्त्र, इतिहास दर्शन आदि विषयों से घनिष्ठता से सम्बद्ध है। पर्यावरणीय अध्ययन समाज द्वारा प्रस्थापित सामाजिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक जीवन मूल्यों, परम्पराओं, अभिकरणों एवं संस्थाओं के विकास, उनकी उपादेयता तथा पवितर्नशील परिस्थितियों में उनकी गत्यात्मकता को बनाये रखने की आवश्यकता को समझने में सहयोग देता है। इसीलिए पर्यावरणीय विज्ञान को पारिस्थितिकी विज्ञान भी कहा जाता है। पारिस्थितिक तन्त्र के दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं - जैविक एवं अजैविक। जैविक संसाधनों में पेड़-पौधों और जीव जन्तु आते हैं तथा अजैविक तत्त्वों में जल संसाधन, वायवीय संसाधन, भूमि सम्पदा संसाधन आदि को लिया जाता है। दोनों का संतुलन पर्यावरण सुरक्षा की दृष्टि से परम आवश्यक है। जैविक वैविध्य का पारिस्थितिक तन्त्र में बना रहना धारणीय विकास के लिए अपरिहार्य है। जैनाचार्यों ने 'परस्परोपग्रहो जीवनाम्, का घोष देकर अहिंसा और संयम का सिद्धांत दिया जो पर्यावरणीय नीतिशास्त्र की रीढ़ है।[४]

वस्तुत: पर्यावरणीय नीतिशास्त्र मनुष्य के स्वविवेकानुसार 'कर्तव्य-बोध' पर प्रकाश डालता है। जैनाचार पर्यावरण का मुख्य संरक्षक है। 'कर्तव्य-पालन' के लिए आवश्यक है कि कार्यों में चुनाव करने की स्वतन्त्रता हो। काण्ट के शब्दों में "तुम कर सकते हो; इसलिए तुम्हें करना चाहिए।" ध्यातव्य है कि पर्यावरण के अन्य 'अवयव' नियम के अधीन चलते हैं। मनुष्य आदर्श (Norm) का चिंतन करता है और चाहे तो उसके अनुकूल कर सकता है और चाहे तो उसके प्रतिकूल। लेकिन 'कृतप्रणाश' (जैसा करो वैसा भरो) का सिद्धान्त कर्त्ता के साथ 'पर्यावरण' को भी प्रभावित करता है; क्योंकि अनुचित आचरण के अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव न केवल आचरणकर्त्ता पर, बल्कि सम्बद्ध अनेक व्यक्तियों पर, पास-पड़ोसियों पर तथा परिवार पर भी पड़ता है। उदाहरणार्थ 'शराबी' व्यक्ति के आचरण का प्रभाव न केवल उसके स्वयं पर, बल्कि उसके परिवार के सदस्यों पर, मित्रों पर तथा अन्य आत्मीय बन्धुओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भी पड़ता है। अत: पर्यावरणीय नीतिशास्त्र का मूल आशय यही है कि व्यक्ति के साथ समाज को भी उसके आचरण के सुपरिणाम या दुस्परिणाम प्रभावित करते हैं।

कोई पूछ सकता है कि किसी व्यक्ति के अनुचित आचरण का 'दण्ड' मात्र उसे न मिलकर अन्य व्यक्ति को या भावी पीढ़ियों को क्यों मिले; जिन्होंने वह अनुचित कार्य किया ही नहीं है; तो क्या यह नैतिक अव्यवस्था नहीं होगी? समुचित उत्तर होगा कि नहीं; नैतिक अव्यवस्था नहीं होगी। जैसे 'नवजात शिशु' को दुराचारी 'माता-पिता' से 'AIDS' प्राप्त होने पर नहीं हाती। दुराचारी व्यक्ति भी किसी परिवार, मोहल्ले या समाज के सदस्य होते हैं और उसको अनुचित कार्य करने से रोकना भी उसी परिवार, मोहल्ले या समाज का कर्तव्य होता है। उस कर्तव्य-पालन को न करने का 'दण्ड' भी उत्तरदायी व्यक्तियों को तो भोगना ही पड़ेगा। जैसे सर्वाधिक विश्वविश्रुत रूस की चेरनोबिल परमाणु दुर्घटना तथा भोपाल के 'मिक' गैस कांड ने इससे असम्बद्ध लोगों के भी जनजीवन को गंभीर रूप से प्रभावित किया था। ठीक इसी तरह आप 'धूम्रपान' नहीं करने मात्र से उसके दुष्परिणाम से बच नहीं सकते हैं। पड़ोस के लोगों द्वारा 'धूम्रपान' करने से भी आप उसके दुष्परिणाम से प्रभावित हो सकते हैं। अत: 'धूम्रपान' के प्रभाव से बचने के लिए न केवल आपको धूम्रपान नहीं करना है; बल्कि 'पर्यावरण' के इस उत्तरदायित्व का पालन भी करना चाहिए कि कोई व्यक्ति धूम्रपान न करे। यही बात 'जल-थल' की 'छतरी', 'ओजोन-संकट', प्राणवायु का साधन 'वनस्पति क्षरण-संकट', समाज के मूलाधार भ्रूणहत्या-संकट आदि अन्य सभी अनुचित आचरण के संदर्भ में भी लागू होती है। अत: पर्यावरणीय प्रगति या अधोगति का उत्तरदायित्व मानव का अपना है। यह उत्तरदायित्व व्यैयक्तिक भी है और सामूहिक भी है। हाफिंग ने माना है - ''जब हम 'विश्व-प्रक्रिया' के विषय में सोचते हैं, तब मानो 'विश्व-प्रक्रिया' हमें सोचती है।'' जैन परम्परा में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव पर्यावरण के प्रथम संवाहक महापुरुष थे जिन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव के अस्तित्व की अवधारणा दी और पर्यावरण की सीमा रेखा को न केवल त्रस जीवों तक बल्कि स्थावर जीवों तक बढ़ाया।

जैन-दर्शन की 'द्रव्य-दृष्टि' तथा 'पर्यावरणीय नीतिशास्त्र' के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनों का 'द्रव्य-चिंतन' 'पर्यावरणीय नीतिशास्त्र' का ही 'अव्यक्त' रूप है जो उनके द्वारा प्रदत्त मनुष्य के सम्यक् जीवन हेतु 'त्रिरत्न' (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है। दोनों में ही जगत् के समस्त तत्त्वों की अन्योन्याश्रिता की अपरिहार्यता को ही बतलाया गया है। इससे दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की अक्षुण्णता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। दोनों के अनुसार देश-काल में व्याप्त प्रत्येक तत्त्व के अस्तित्व का अपना-अपना प्रवाह है; परन्तु काफी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवाह एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। यह क्रिया-प्रतिक्रिया निरन्तर चलती रहती है - चरैवेति-चरैवेति।

निष्कर्षत: दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कहा जा सकता है कि 'जैन-दर्शन' का 'जीव' स्वरूपत: ज्ञानवान् है और 'पर्यावरणीय नीतिशास्त्र' का मूलाधार मनुष्य आत्मचेतन प्राणी है; तथा उसके अस्तित्व में जगत् के प्रत्येक 'तत्त्व' का अंश अनुस्यूत है और किसी एक 'तत्त्व' के विकृत होने पर उसके 'दुष्परिणाम' सम्पूर्ण जगत् को प्रभावित करते हैं। जैसे मानव के 'उदर' की 'जठराग्नि' दूषित होने पर उसके सम्पूर्ण शरीर को व्याधिग्रस्त कर देती है। अत: वर्तमान और भावी पीढ़ियों के सम्यक् हित को ध्यान में रखकर मानव को आचरण करना है। जैसा कि रोमॉ रोलाँ ने माना है कि "व्यक्ति के कर्त्तव्य मानव समाज तक ही सीमित नहीं हैं; बल्कि वास्तव में सम्पूर्ण 'चेतन-सृष्टि के अन्दर फैले हुए हैं; क्योंकि प्रत्येक प्राणी मनुष्य का पड़ोसी है।"[५]

जैनाचार्यों ने व्यक्ति को प्रकृतिस्थ बनाने के लिए ऐसी जीवन पद्धति दी है जो उसे सुन्दर आध्यात्मिक भाव-भूमि तैयार कर देती है। यह भाव-भूमि अहिंसा और अपरिग्रह की है जिसपर चलकर कोई भी व्यक्ति दूसरे को न कष्ट दे सकता है और न अनैतिक मार्ग पर चल सकता है। पर्यावरण को विशुद्ध बनाये रखने के लिए ये दो ही अंग विशेष साधक हैं। जिनपर चलकर पर्यावरण प्रदूषण से मुक्त हुआ जा सकता है।

सन्दर्भ :

१. कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैक वृद्धानि, **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र,** २/२४.

२. वही, २/१३.

३. **अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका;** श्लोक; २/२२, षड्जीवकायं त्वनन्तसंख्य-माख्यस्तथा नाथ यथा न दोष:।

४. डॉ० भागचन्द्र जैन, **जैन धर्म और पर्यावरण,** न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली २००१.

५. Romain Rolland : *Mahatma Gandhi*, Shivlal Agrawal & Co. Ltd. Agara, 1948.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियों के आहार सम्बन्धी नियम

अन्शु श्रीवास्तव*

जैन एवं बौद्ध धर्म श्रमण परम्परा के मुख्य निर्वाहक रहे हैं। इन दोनों धर्मों की व्यवस्था में भिक्षु एवं भिक्षुणी संघ का विशेष महत्व है क्योंकि ये श्रमण परम्परा के आधार स्तम्भ हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में भिक्षुणी संघ के भोजन सम्बन्धी कुछ नियमों पर प्रकाश डाला गया है।

जैन धर्म में भिक्षु एवं भिक्षुणियों दोनों के लिए समान नियमों की व्यवस्था की गई थी। गृहस्थों को किसी प्रकार की पीड़ा न देते हुए उनके द्वारा बनाये गये भोजन में से अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेने का उन्हें निर्देश दिया गया है।[१] उन्हें स्वादिष्ट भोजन के लोभ में किसी सम्पन्न घर में जाने का निषेध था, अपितु उन्हें सलाह दी गयी थी कि वे सभी घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करें।[२]

श्रमण आहार के लिए जाए तो गृहस्थ के घर में प्रवेश करके शुद्ध आहार की गवेषणा करे। वह यह जानने का प्रयास करे कि आहार शुद्ध और निर्दोष है या नहीं।[३] इस आहार को लेने से पूर्व और पश्चात् कर्म दोष तो नही लगेंगे? यदि आहार अतिथि आदि के लिए बनाया गया है तो उसे लेने पर गृहस्थ को दोबारा तैयार करना पड़ेगा या गृहस्थ को ऐसा अनुभव होगा कि मेहमान के लिए भोजन बनाया और मुनि बीच में ही आ टपके। इससे उनके मन में क्षोभ की भावना हो सकती है अत: वह भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। किसी गर्भवती महिला के लिए बनाया गया भोजन हो, वह खा रही हो और उसको अन्तराय लगे वह आहार भी श्रमण ग्रहण न करे।[४] निर्धन और भिखारियों के लिए तैयार किया गया आहार भिक्षुणी के लिए अकल्पनीय है।[५] दो साझीदारों का आहार हो और दोनों की पूर्व सहमति न हो तो वह आहार भी भिक्षुणी ग्रहण न करे।[६]

जिस स्वामी के उपाश्रय (शय्यातर) में भिक्षुणी रह रही हो उसके घर से भिक्षा ग्रहण करना निषिद्ध था।[७] दूसरे के घर का आहार भी यदि शय्यातर के यहां आ जाय तब भी वह उसके यहां से भोजन नहीं ले सकती थी। भिक्षा वृत्ति के लिए भिक्षुणी को अकेले जाना निषिद्ध था। उसे दो या तीन भिक्षुणियों के साथ जाने का विधान किया गया था।[८] उसे यह निर्देश दिया गया था कि उद्विग्नता रहित शान्तचित्त होकर भिक्षा

* *शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, का०हि०वि०वि०।*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए जाये। यदि वर्षा हो रही हो, घना कुहरा पड़ रहा हो, आँधी चल रही हो या टिड्डी आदि जीव-जन्तु इधर-उधर घूम रहे हों तो ऐसे समय भिक्षा वृत्ति के लिए जाने का निषेध किया गया है।[९] भिक्षुणी को कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढ़ेर पर से जाने का निषेध है।[१०] भिक्षुणी को अतिशीघ्रता से चलना चाहिए। चलते हुए हंसना या वार्तालाप करना भी वर्जित था। उसे भिक्षा के लिए आतुरता नहीं व्यक्त करनी चाहिए अपितु अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए।[११]

स्थानांग[१२] में आहार सम्बन्धी चार नियम दिये गये हैं।

(अ) असणे - अन्न से निर्मित खाद्य पदार्थ

(ब) पाणे - पेय पदार्थ

(स) खाईमे - फल, मेवा आदि

(द) साइमे - ताम्बूल, लौंग, इलायची आदि

जैन ग्रन्थों में उपयुक्त तथा अनुपयुक्त प्रकार के आहारों का सम्यक विवेचन मिलता है। साध्वी उपयुक्त प्रकार का आहार ग्रहण करे, यह निर्देश दिया गया है।[१३] आहार सम्बन्धी दोषों को चार भागों में बाँटा गया है।[१४]

(क) उद्गम (ख) उत्पादन

(ग) एषणा (घ) परिभोग

जैन भिक्षुणी को आहार सम्बन्धी दोषों से रहित भोजन ग्रहण करना चाहिए। सूर्योदय से पूर्व तथा सूर्यास्त के बाद आहार लेना सर्वथा वर्जित हैं।[१५] रात्रि में सूक्ष्म प्राणी दिखायी नहीं देते हैं हिंसा की आशंका होती है इसलिए रात्रि के भोजन का सर्वथा निषेध किया गया है।[१६]

उत्तराध्ययन में भोजन ग्रहण करने के छः कारण बताये गये हैं।

(१) वेयण - क्षुधा की शान्ति के लिए

(२) वेयावच्चे - वेदावृत्य (सेवा) के लिए

(३) इरियट्ठाये - ईर्या समिति के पालन के लिए

(४) संजमट्ठाए - संयम पालन के लिए

(५) पाणवृत्तियाए - प्राणों की रक्षा के लिए

(६) धम्मचिन्ताए - धर्मचिन्तन के लिए

जैन भिक्षुणियों को भिक्षा के लिए दूर तक जाने का विधान नहीं था। **उत्तराध्ययन** के अनुसार भिक्षुणी भिक्षा के लिए आधे योजन तक जा सकती थी। **बृहत्कल्पसूत्र**[१७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार वह एक कोस सहित एक योजन का अवग्रह करके रह सकती थी अर्थात $२\frac{१}{२}$ कोस जाना और $२\frac{१}{२}$ कोस लौटना इस प्रकार ५ कोस जाने का नियम था।

बौद्ध भिक्षुणियों के आहार सम्बन्धी नियम -

यदि हम बौद्ध भिक्षुणियों के आहार सम्बन्धी नियमों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म में भी भिक्षु-भिक्षुणियों के भोजन सम्बन्धी नियमों में कोई अधिक असमानता नहीं है।

बौद्ध भिक्षुणियों को भिक्षुओं के समान आचरण करने का निर्देश स्वयं भगवान् बुद्ध ने दिया था।[१८] बौद्ध भिक्षुणियों को आहार सम्बन्धी नियमों का पालन करना पड़ता था।

बौद्ध भिक्षुणियों का भोजन सादा तथा सात्विक होता था। भोजन में लहसुन तथा प्याज का प्रयोग निषिद्ध था।[१९]

बौद्ध धर्म में भिक्षुणी को दुर्भिक्ष आदि के अवसर पर भी मनुष्य, कुत्ते, सिंह, बाघ, चिते आदि का मांस खाना निषिद्ध ठहराया गया है।[२०] मांस खाने वाला घुल्लच्चाय का गम्भीर दोषी माना जाता था। इसी प्रकार सुरापान करना सर्वथा वर्जित था।[२१] बौद्ध भिक्षुणियों को मध्याह्न के बाद भोजन करना निषिद्ध था ऐसा करने पर उन्हे पाचित्तिय के दण्ड का भागी बनना पड़ता था।[२२] भोजन करने के सम्बन्ध में बौद्ध भिक्षुणियों को यह निर्देश था कि पिंड ग्रास को सावधानी पूर्वक मुँह में डालें।

भोजन का ग्रास न तो अधिक बड़ा होना चाहिए और न अधिक छोटा उसका आकार गोल होना चाहिए।[२३] गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन सुस्वादु हो अथवा स्वाद रहित, भिक्षा का सम्मान करते हुए उसे ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था। भिक्षा कैसी भी हो वह उसे लेने से अस्वीकार नहीं कर सकती थी।[२४] भिक्षा ग्रहण करते समय उसे अपने पात्र की तरफ ही देखने को कहा गया था तथा साथ ही यह भी निर्देश दिया गया था कि ग्रहण किया गया पदार्थ ऊपर उठा हुआ न हो बल्कि पात्र के अन्दर हो।[२५] ग्रहण किया गया पदार्थ आवश्यकता से अधिक प्राप्त होने पर आपस में भिक्षुणियों को बांट कर खाना चाहिये।

जैन और बौद्ध दोनों संघों के आहार सम्बन्धी नियम देखने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही संघों में भिक्षुणियों का भोजन सादा एवं सात्विक होता था। भोजन की शुद्धता का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। दोनों ही संघों में रात्रि भोजन वर्जित था। रात्रि में सूक्ष्म जीवों की हिंसा का डर रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि दोनों संघों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आहार सम्बन्धी नियमों में ज्यादा अन्तर नहीं था। जैन संघ अति कठोरता में विश्वास करता था जबकि बौद्ध संघ मध्यममार्गी था।

सन्दर्भ :

१. **दशवैकालिक**, १/२-४.
२. वही, ८/२३.
३. वही, ५/१/२७, ५/१/५६.
४. वही, ५/१/२५.
५. वही, ५/१/३९.
६. वही, ५/१/४७.
७. **बृहत्कल्पसूत्र**, २/१३.
८. वही, ५/१६
९. **दशवैकालिक**, ५/१/८.
१०. वही, ५/१/७.
११. वही, ५/१/१३-१४.
१२. **स्थानांङ्ग**, ४/२८८.
१३. **दशवैकालिक**, ५/१/९-१०.
१४. **उत्तराध्ययन**, २४/१२.
१५. **दशवैकालिक**, ८/२८.
१६. वही, ६/२४-२६, **बृहत्कल्पसूत्र**, १/४४, ५/४७.
१७. **बृहत्कल्पसूत्र**, ३/३४.
१८. **चुल्लवग्ग**, पृष्ठ ३७९.
१९. **पातिमोक्ख**, भिक्खुनी पाचित्तिय, १.
२०. **महावग्ग**, पृष्ठ २३३-२३६.
२१. **पातिमोक्ख**, भिक्खुनी पाचित्तिय, १३२.
२२. **पातिमोक्ख**, भिक्खुनी पाचित्तिय, १२०.
२३. **पातिमोक्ख**, भिक्खुनी सेखिय, ३५-४०.
२४. **पातिमोक्ख**, भिक्खुनी सेखिय, २७.
२५. **पातिमोक्ख**, भिक्खुनी सेखिय, २७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर जैन जातियाँ : उद्भव एवं विकास

श्रीमती कुसुम सोगानी*

जैन धर्म की भांति जैन समाज भी अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरा है। अनेक बार इतर जैनों को यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि जैन कोई जाति है। जबकि वास्तविकता यह है कि जैन जाति न होकर एक धर्म है जिसे किसी भी जाति का व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने जैन धर्म के अनुयायियों को तीन वर्णों में विभाजित किया था एवं तत्पश्चात् उन्होंने चार वर्णों की अवधारणा को स्वीकृति प्रदान कर दी थी। वैदिक वर्ण व्यवस्था ने ही कालान्तर में जाति प्रथा का रूप धारण कर लिया था। जैन धर्म ने प्रारम्भ से ही वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया था, यही कारण है कि ये अनेक जातियों में बंटे हुए हैं। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जैन धर्म में जाति व वर्ण के नाम पर कोई विभाजन नहीं किया था। इसके स्थान पर जैन धर्मानुयायियों के आचार-विचार में शुद्धता बनाए रखने के ध्येय से समाज का चार वर्गों में वर्गीकरण किया था। महावीर स्वामी ने भी इसी नीति का पालन किया। भारतीय समाज की मुख्य धारा वैदिक रही है जो आगे चलकर सनातनी हिन्दू संस्कृति के रूप में विकसित हुई। यूं समन्वित रूप में भारतीय संस्कृति एक है किन्तु वैदिक काल से ही भारतीय समाज वर्ण व जाति आधारित रहा है। अतः भारत में वैदिक धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त फल-फूलने वाले धर्मों में जाति-प्रथा का समावेश किसी न किसी रूप में हुआ है।

जैन धर्म में जाति प्रथा का प्रचलन कई रूपों में है। जैन जातियों में आपस में खान-पान व वैवाहिक सम्बन्धों का निर्धारण जैन समाज में विद्यमान जातीय आधारों पर होता है। जातीय आधारों पर दिगम्बर जैनों में भारी बिखराव है किन्तु धार्मिक सूत्र ने उन्हें एकताबद्ध कर रखा है। जाति और सम्प्रदाय केवल सामाजिक मुद्दे ही नहीं हैं बल्कि ये सांस्कृतिक व दार्शनिक मुद्दे भी हैं। जैसा कि विदित है कि जैन धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायों क्रमशः दिगम्बर व श्वेताम्बरों में विभाजित है। किन्तु दिगम्बर जैन समाज पुनः दो प्रमुख उपसम्प्रदायों - क्रमशः बीसपंथी व तेरहपंथी - में बंटा हुआ है। जैन सम्प्रदाय के अनुयायियों में संघ भेद भी व्याप्त है। संघ भेद से अधिक व्यापक जाति प्रथा जैन समुदाय में अधिक महत्व रखती है किन्तु जाति प्रथा के बारे में यह माना जाता है कि साधु - साध्वियों के संघ, गण एवं गच्छों में विभाजन से समस्त जैन समाज भी जातियों एवं उपजातियों में विभाजित हो गया।

* *शोधार्थी, २/२ पारसी मोहल्ला, छावनी, इन्दौर (म०प्र०)*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर जैन जातियों की उत्पत्ति का कारण

दिगम्बर जैन समाज में जाति प्रथा की उत्पत्ति के दो प्रमुख कारण उभर कर सामने आते हैं। प्रथम एवं प्रमुख कारण वैदिक परम्परा में प्रचलित वर्ण व जाति प्रथा को ही माना जायेगा। दूसरा महत्वपूर्ण कारण जैन समाज का अनेक संघों, उपसंघों, सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों इत्यादि में विभाजित होना है। दिगम्बर जैन जातियों के नामों से यह भी आभास होता है कि इनकी अनेक जातियां व्यवसाय, प्रदेश स्थान इत्यादि के नाम पर भी उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि भगवान् महावीर के समय जाति प्रथा ने अधिक जोर नहीं पकड़ा लेकिन उनकी मृत्यु के कुछ वर्षों पश्चात् ही अनेक जैन जातियों की उत्पत्ति दिखाई देती है। इसलिए सम्यक् दर्शन के परिपालन में जातिमद को भी अवरोधक माना गया है। यद्यपि **आदिपुराण** के रचयिता आचार्य जिनसेन ने "मनुष्य जाति: एकैव" कहकर जातियों के महत्व को कम करना चाहा और समस्त मानव जाति को एक ही समान माना। महावीर स्वामी के पश्चात् होने वाले गणधरों, केवलियों, आचार्यों एवं भट्टारकों की अनेक पट्टावलियां मिलती हैं जिनमें आचार्यों एवं भट्टारकों के नाम के साथ उनकी जातियों का भी उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन सम्प्रदाय में जाति प्रथा का प्रचलन महावीर स्वामी के निधन के पश्चात ही आरम्भ हो गया था। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि जैन जातियों के उद्गम के तीन प्रमुख कारण हैं जिनमें वैदिक प्रभाव, विभिन्न जैन समूहों व सम्प्रदायों का उदय, स्थान विशेष व व्यवसाय आधारित जाति प्रमुख रहे हैं। जैन समुदाय में जाति प्रथा अब पूर्णत: जन्म आधारित है किन्तु इसका उदय विभिन्न कारणों से हुआ।

जैन जातियां नाममात्र की ही जातियां नहीं हैं बल्कि इनका आज भी भारी सामाजिक व सांस्कृतिक महत्व है। अनेक सामाजिक निर्णय इनकी जातीय पंचायतों द्वारा निर्धारित होते हैं। किसी भी सामाजिक अपराधी को दण्डित करने का कार्य जैनों की ज्ञातीय पंचायतें करती हैं। दिगम्बर जैन समुदाय भारी संख्या में जातियों में बंटा हुआ है तथा इसकी प्रत्येक जाति की अपनी अलग पंचायत है जो अपनी जाति के लोगों के जीवन को नियमित करती है।[१] विभिन्न जातियों के नैतिक स्तरों में भी भारी भिन्नता व्याप्त है। उदाहरण के लिए उत्तर भारत की अधिकांश जैन जातियां विधवा विवाह की आज्ञा नहीं देतीं जबकि दक्षिण की जातियों में विधवा विवाह आम तौर पर प्रचलित है। इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक जाति के जन्म, विवाह एवं मृत्यु सम्बन्धी आयोजनों में भी जातीय भिन्नता है। श्रीमाली, अग्रवाल, परवार, सेतवाल एवं अन्य जाति, रीति रिवाजों में भारी भिन्नता लिए हुए हैं। इनमें अपनी-अपनी जाति को सर्वोच्च मानने का मिथ्या अभिमान भी दिखाई देता है। अनेक जैन जातियां जाति तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि जाति के अन्दर भी उनमें बीसा, दस्सा आदि भेद व्याप्त हैं। दिगम्बर जैनों के तेरहपंथ समुदाय की ६ जातियों में चारणगारे जाति को अत्यधिक सम्मानजनक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना जाता है क्योंकि इस जाति में अनेक धार्मिक व विद्वान् विभूतियां पैदा हुई हैं।[२] इसी प्रकार पूर्व निजाम के राज्य क्षेत्र में पोरवाड़ों की तुलना में श्रावगियों का अधिक सम्मान होता था तथा उन्हें सबसे ऊँचा माना जाता था।[३] कर्नाटक के उत्तरी कनारा जिले में जैनों के तीन विभाजन हैं जिनमें क्रमश: चतुर्थ, तगारा-बोगरा एवं पुजारी शामिल हैं।[४] यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अधिकांश जैन अपने आपको वैश्य समुदाय का मानते हैं तथा उनमें शूद्र जातियां नहीं हैं जबकि वास्तविकता इससे भिन्न दिखाई देती है। एक ओर जैन मानते हैं कि बिना किसी जातीय भेद भाव के कोई भी व्यक्ति जैन धर्म अंगीकार कर सकता है वहीं दूसरी ओर यह कहना कि जैनों में शूद्र नहीं हैं, एक हास्यपद स्थिति है। जबकि महावीर स्वामी के समय ब्राह्मणीय धर्म से निम्न जातियों ने भारी संख्या में जैन धर्म अंगीकार किया था।

शूद्रों को वैदिक परम्परा में अत्यधिक निम्न स्थान प्राप्त था। उन्हें धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं था। मन्दिर प्रवेश पर भी रोक थी, इसलिए निम्न जाति के लोग जैन धर्म की ओर आकर्षित हुए। इसलिए अनेक जैन जातियां शूद्रों से बनी हैं। अनेक जातियां जो दस्सा और बीसा में विभाजित हैं उनमें अनेक स्थानों पर दस्साओं को मन्दिर में पूजा करने की अनुमति नहीं है।[५] दिगम्बर साधु ऐसे लोगों का भोजन स्वीकार नहीं करते जो विधवा विवाह करते हैं। वर्तमान में भी दिगम्बर जैन साधु शूद्रों का भोजन स्वीकार नहीं करते। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार शूद्रों को मोक्ष का अधिकार नहीं है। वे उच्च श्रेणी के साधु भी नहीं बन सकते तथा उन्हें पूजा का भी अधिकार नहीं है। जैन सम्प्रदाय में ब्राह्मणों का भी महत्व नहीं है। जैन ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों को प्रमुख स्थान देते हैं। ऐसा देखने को मिलता है कि जैनों की अनेक जातियों के नाम उनके उद्गम स्थान के नाम पर हैं। उदाहरणार्थ श्रीमाल (वर्तमान भीनमाल) से श्रीमाली, ओसियां से ओसवाल, अग्रोहा से अग्रवाल, बघेरा से बघेरवाल, चित्तौड़ से चित्तौड़ा, खण्डेला से खण्डेलवाल इत्यादि।

दिगम्बर जैन समाज भी विभिन्न जातियों में विभाजित है। जैन मात्र कोई नहीं है। इनकी पहचान किसी न किसी जाति में समाहित हुए बिना नहीं है। दिगम्बर जैन जातियों की संख्या निश्चित नहीं है। वैसे अधिकांश जैन विद्वान् ८४ जातियों के नाम गिनाते हैं। ८४ की संख्या उत्तरी भारत में बहुत प्रचलित है। इसलिए ८४ जातियों का उल्लेख आता है।

विभिन्न शताब्दियों में होने वाले विद्वानों ने जातियों का जो विवरण लिखा है उसमें समानता नहीं है। १५वीं शताब्दी के विद्वान् ब्रह्मजिनदास ने सर्वप्रथम ८४ जातियों के नाम गिनाए हैं लेकिन उनके पश्चात् होने वाले रचनाकारों द्वारा प्रतिपादित जातियों का विवरण ब्रह्मजिनदास से नहीं मिलता है। १८वीं शताब्दी के कवि बख्तदास शाह ने ५-७ पोथियों को देखकर इन जातियों के बारे में लिखा है। उनके युग में कितनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातियां मिलती थीं इस बारे में वे मौन हैं। सन् १९४१ में एक जातियों की जनगणना की गई थी तब ८४ के स्थान पर केवल ७० जातियों की जानकारी दी गई। उस समय देश में ७० जैन जातियों की जनसंख्या निम्न प्रकार थी[६] -

क्रमांक	जाति	जनसंख्या	क्रमांक	जाति	जनसंख्या
१.	खण्डेलवाल	६४७२६	२६.	काम्भोज	७०५
२.	जैसवाल	११०८९	२७.	समैय्या	११०७
३.	अग्रवाल	६७१२१	२८.	असाटी	४६७
४.	परवार	५४८७३	२९.	हूंबड़ (दस्सा-बीसा)	२०६३४
५.	पल्लीवाल	४२७२	३०.	पंचम	३२५५६
६.	गोलालारे	५५८२	३१.	चतुर्थ	६९२८५
७.	विनैक्या	३६८५	३२.	बदनेरे	५०१
८.	ओसवाल (दि०)	७४७	३३.	नेमा	२६३
९.	वरैय्या	१५८४	३४.	भावसार	८०
१०.	गंगेरवाल	७७२	३५.	नरसिंहपुरा (दस्सा-बीसा)	७०६५
११.	दिगम्बर जैन	११६७	३६.	सेतवाल	२०८८९
१२.	पोरवाल	११५	३७.	मेवाड़ा	२१६०
१३.	बुढले	५६६	३८.	नागदा	३५५१
१४.	लोहिया	६०२	३९.	चित्तौड़ा (दस्सा-बीसा)	८५७
१५.	गोलसिधारे	६२९	४०.	श्रीमाल	७८०
१६.	खरौवा	१७५०	४१.	सेलवार	४३३
१७.	लमेचू	१९७७	४२.	श्रवक	८४६७
१८.	गोलापूर्व	१०८३४	४३.	सादर (जैन)	११२४१
१९.	चरनागरे	१९८७	४४.	बोगार	२४३१
२०.	धाकेड़	१२७२	४५.	जैन दिगम्बर	९७७२
२१.	कठनेरा	६९९	४६.	हरदर	२३६
२२.	पोरवाड़	२५८१	४७.	उपाध्याय	१२१६
२३.	कासार	९९८७	४८.	ब्राह्मण जैन	७०४
२४.	बघेरवाल	४३२४	४९.	खुरसाले	२४०
२५.	अयोध्यावासी	५९२	५०.	२० अन्य जातियों की संख्या १०० से कम है और सब मिलाकर ७०६ हैं।	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनमें से कुछ प्रमुख जैन जातियों का परिचय निम्न प्रकार है :-

१. खण्डेलवाल[७]

उद्भव की कहानी

खण्डेलवाल जैन समाज राजस्थान, मालवा, आसाम, बिहार, बंगाल, नागालैण्ड, मणिपुर, उत्तरप्रदेश के कुछ जिलों एवं महाराष्ट्र में बड़ी संख्या में हैं और आज भी बम्बई, कलकत्ता, जयपुर, इन्दौर, अजमेर जैसे नगर उनके केन्द्र माने जाते हैं जहां खण्डेलवाल जैन बड़ी संख्या में हैं। इस जाति में अनेक दीवान अथवा प्रमुख राज्य संचालक उच्च पदस्थ राज्याधिकारी हुए जिन्होंने सैकड़ों वर्षों तक राजपूताने के देशी राज्यों की अभूतपूर्व सेवा करते हुए युद्ध भूमि में विजय भी प्राप्त की।

सारे देश में फैले हुए खण्डेलवाल जैन संख्या की दृष्टि से पूरे दिगम्बर जैन समाज का पांचवा हिस्सा हैं। खण्डेलवाल जाति का नामकरण खण्डेला नगर के कारण हुआ। खण्डेला नगर राजस्थान के सीकर जिले में जिला मुख्यालय से ४५ कि०मी० दूर स्थित है। खण्डेला के इतिहास की अभी खोज नहीं हो सकी है लेकिन यहां पर जो जैन अवशेष मिलते हैं उससे पता चलता है कि शैव पाशुपतों का केन्द्र बनने के पहले यह नगर जैनों का प्रमुख केन्द्र था। इसका पुराना नाम खण्डिल्लकपत्तन अथवा खण्डेलगिरि था। भगवान् महावीर के १०वें गणधर मेतार्य ने खण्डिल्लकपत्तन में आकर कठोर तपस्या की थी ऐसा उल्लेख आचार्य जयसेन ने अपने ग्रन्थ **धर्मरत्नाकर** की प्रशस्ति में किया है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की एक उपशाखा - खंडिल्लगच्छ का उद्गम स्थल भी यही स्थान है। खण्डेला का राजनैतिक इतिहास अधिकांश रूप में तो अन्धकारपूर्ण है। प्रारम्भ में यहाँ चौहानों का राज्य रहा। **हम्मीरमहाकाव्य** में भी खण्डेला का नामोल्लेख हुआ है। महाराणा कुम्भा ने भी खण्डेला पर अपनी विशाल सेना को लेकर आक्रमण किया था तथा नगर की खूब लूट-खसोट की थी। संवत् १५२४ में यहां उदयकरण का शासन था ऐसा **वर्धमानचरित** की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

२. अग्रवाल[८]

उत्तर भारत में अग्रवाल जैन जाति अत्यधिक प्रसिद्ध, समृद्ध एवं विशाल संख्या वाली मानी जाती है। हरियाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और दिल्ली दिगम्बर जैनों के प्रमुख केन्द्र हैं। जैन धर्म, साहित्य एवं संस्कृति के विकास में अग्रवाल जैनों का प्रमुख योगदान रहा है। अग्रवाल जाति जैन एवं वैष्णव दोनों में बंटी हुई है तथा उन दोनों में सामाजिक सम्बन्ध भी प्रगाढ़ बने हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्रवाल जाति की उत्पति अग्रोहा से मानी जाती है। अग्रोहा हरियाणा प्रदेश के हिसार जिले में स्थित है। प्राचीन काल में यह एक ऐतिहासिक नगर था। सन् १९३९-४० में जब यहां के एक टीले की खुदाई हुई तो उसमें तांबे के सिक्कों पर अंकित कर्ण, गज, वृषभ, मीन, सिंह, चैत्य, वृक्ष आदि के जो चिन्ह प्राप्त हुए हैं, उन्हें जैन मान्यता की ओर स्पष्ट संकेत माना जा सकता है। अग्रोहे का नाम अग्रोहक भी रहा है। जनश्रुति के अनुसार अग्रोहा में राजा अग्रसेन राज्य करता था। इसी से अग्रवाल जाति का उद्भव हुआ। लेकिन इसके अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिल सके हैं। कविवर बुलाखीचन्द ने अग्रवाल जाति की उत्पत्ति एक ऋषि द्वारा मानी है तथा लोहाचार्य द्वारा अग्रवालों को जैन धर्म में दीक्षित करना माना है। अग्रवालों के १८ गोत्र रहे हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं-

गर्ग, गोयल, सिंघल, मुंगिल, तायल, तरल, कंसल, बछिल, एरन, ढालण, चिन्तल, मित्तल, जिंदल, किंघल, हरहरा, कंछिल, पुखन्या एवं बंसल।

एक दिगम्बर पट्टावली के अनुसार वि०सं० ५६५ में मुनि रत्नकीर्ति हुए जो अग्रवाल जाति के थे। देहली के तोमरवंशीय शासक अनंगपाल के शासन काल में रचित **पासणाहचरिउ** के अनुसार कवि श्रीधर स्वयं अग्रवाल जैन थे तथा अपने लिए "अयरवाल कुल संभवेन" लिखा है। **पासणाहचरिउ** को लिखाने वाले नट्टलसाहु स्वयं जैन अग्रवाल थे। अलीगढ़ प्रदेश के निवासी साहू पारस के पुत्र टोडर अग्रवाल ने मथुरा में ५१४ स्तूपों का निर्माण करवाकर प्रतिष्ठा करवाई थी। साहू पांडे राजमल्ल ने संवत् १६४२ में **जम्बूस्वामीचरित्र** की रचना की थी। अपभ्रंश के महान कवि रइधू के आश्रयदाता अधिकांश अग्रवाल श्रावक थे। **आदित्यवारकथा** के रचयिता भाउ कवि स्वयं अग्रवाल जैन थे। राजस्थान के जैन ग्रंथ भण्डारों में अग्रवाल श्रावकों द्वारा लिखवाई हुई हजारों पाण्डुलिपियां संग्रहीत हैं।

मंदिरों एवं मूर्तियों के निर्माण में भी अग्रवाल जैन समाज का महत्वपूर्ण योगदान है। ग्वालियर किले की अनेक सुन्दर मूर्तियों का निर्माण अग्रवाल जैनों ने कराया था। दिल्ली के राजा हरसुखराय सुगनचन्द ने अनेक जिन मंदिरों का निर्माण कराया था। इस प्रकार अग्रवाल जैन समाज दिगम्बर जैन समाज का प्रमुख अंग है जो वर्तमान में देश के प्रत्येक भाग में बसा हुआ है। देश में अग्रवाल जैनों की संख्या १० लाख से अधिक मानी जाती है।[९]

३. परवार

दिगम्बर जैन परवार जाति का प्रमुख केन्द्र मध्यप्रदेश का सागर और जबलपुर तथा उत्तर प्रदेश में झाँसी जिले का ललितपुर माना जाता है। इस समाज के श्रावक एवं श्राविकाएं आचार-व्यवहार में धर्मनिष्ठ और प्राचीन परम्पराओं के अनुयायी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परवार जाति का उल्लेख पौरट्टान्वय के रूप में मूर्तिलेखों एवं ग्रन्थ एवं पुस्तक प्रशस्तियों में मिलता है। लेकिन इस जाति के उत्पत्तिस्थान के रूप में अभी तक कोई निश्चित ग्राम या नगर का नाम नहीं मिलता है। पट्टावलियों में परवार जाति का उल्लेख विक्रम संवत् २६ से मिलता है और मुनि गुप्तिगुप्त इस जाति में उत्पन्न हुए थे ऐसा भी उल्लेख है। इसके पश्चात सं० ७६५ में होने वाले पट्टाधीश एवं सं० १२५६, १२६४ में होने वाले आचार्य भी परवार जाति में उत्पन्न हुए थे।[१०]

पं० फूलचन्द शास्त्री के मतानुसार परवार जाति को प्राचीन कला में प्राग्वाट नाम से अभिहित किया जाता रहा है। लेकिन ब्रहम जिनदास ने "चौरासी जाति जयमाला" में पोरवाड़ शब्द से परवार जाति का उल्लेख किया है। अपभ्रंश ग्रंथों में परवार को परवाड़ा शब्द से अभिहित किया गया है। महाकवि धनपाल के **बाहुबलिचरिउ**, रइधू कवि के **श्रीपालसिद्धचक्रचरिउ**, आचार्य श्रुतकीर्ति के **हरिवंशपुराण** एवं पं० श्रीधर के **सुकुमालचरिउ** की ग्रंथ प्रशस्तियों में पुरवाड शब्द का प्रयोग किया गया है। लेकिन श्रावकों की ७२ ज्ञातियों वाली एक पाण्डुलिपि में अष्ठसखा पोरवाड़, दुसरवा पोरवाड़, चोसरवा पोरवाड़, जागड़ा पोरवाड़, पद्मावती पोरवाड़, सोरठिया पोरवाड नामों के साथ परवार नाम को भी गिनाया है। ऐसा लगता है कि परवार जाति भेद एवं अभेदों में इतनी बंट गई थी कि इनमें परस्पर में रोटी एवं बेटी व्यवहार भी बन्द हो गया था। चौसखा समाज वर्तमान में तारणपंथी समाज के नाम से जाना जाता है। कविवर बख्तराम साह ने अपने **बुद्धिविलास** में परवार जाति के सात खापों का उल्लेख किया है।

पौरपट्टअन्वय में जो १२ गोत्र सुप्रसिद्ध हैं उनके नाम निम्न प्रकार हैं - गोइल्ल, वाछल्ल, इयाडिम्म, बाझल्ल, कासिल्ल, कोइल्ल, लोइच्छ, भारिल्ल, माडिल्ल, गोहिल्ल और फागुल्ल। प्रत्येक गोत्र के अन्तर्गत १२-१२ मूल गिनाए गए हैं जो सम्भवत: ग्रामों के नाम पर बने हुए हैं।

देश में परवार जाति मुख्यत: मध्यप्रदेश में मिलती है। जबलपुर, सागर, ललितपुर, कटनी, सिवनी आदि नगरों में ये बड़ी संख्या में मिलते हैं। सारे देश में परवार जाति की संख्या ५-७ लाख से अधिक है।

४. बघेरवाल[११]

बघेरवाल जाति राजस्थान की प्रमुख दिगम्बर जैन जाति है। प्रदेश के कोटा, बूंदी एवं टोंक जिले बघेरवाल समाज के प्रमुख केन्द्र हैं। राजस्थान के अतिरिक्त महाराष्ट्र में भी बघेरवाल जाति अच्छी संख्या में निवास करती है। बघेरवाल जाति की उत्पति संवत् १०१ में टोंक जिले के बघेरा गांव से मानी जाती है। कृष्णदत्त ने संवत् १७४६ में रचित अपने **बघेरवालरास** में उक्त मत की पुष्टि की है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि बघेरे अपनो निश्चल उत्पत्ति नाम।
बड कुल जस तिण वर्णए, बघेरवाल वरियाम।।

बघेरा नामक स्थान राजस्थान में केकड़ी तहसील से लगभग १६ कि०मी० दूरी पर स्थित है। वर्तमान में वहां बघेरवालों का एक भी परिवार नहीं रहता। लेकिन बघेरवाल बन्धु अपनी पैतृक भूमि के दर्शन करने यहां अवश्य आते रहते हैं। यहां दो दिगम्बर जैन मंदिर हैं इनमें ११वीं से १३वीं शताब्दी की कई जिन प्रतिमाएं हैं जिनमें शांतिनाथ की मूर्ति अत्यधिक मनोहर, प्राचीन एवं कलापूर्ण है। यहां खुदाई में अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिससे पता चलता है कि बघेरा कभी वैभवशाली विशाल नगर था तथा दिगम्बर जैन समाज यहां अच्छी संख्या में रहता था। शांतिनाथ स्वामी का मंदिर अतिशय क्षेत्र के रूप में विख्यात है जिसके दर्शनार्थ जैन, अजैन सभी आते हैं।

बघेरवाल जाति के ५२ गोत्र माने गए हैं जिनका वर्णन भी उक्त रास में किया गया है।

बावन गोत उद्योतवर, अवनि हुआ अवतार।
विवधि तास जस विस्तरों, ए करणी अधिकार।।

इन गोत्रों के नाम निम्न प्रकार है -

खंडवड, लांबाबांस, साखूल्या, धानोत्या, समथरा, बावर्‌या, सीघडतोड़, कागट्या, हरसोरा, साहुला, कोरिया, भंडार्‌या, कटारिया, बनावड़या, ठोल्या, पगास्या, बोरखंड्या, बंडमूडी, तातहडसया, मंडाया, बदलचढ, पोतल्या, दरोग्या, भूरया, दहलोडा, निठरणीवाल, मथुरया, गुहीवाल, साखूण्या, सरवाड्या, पापल्य, डूंगरवाल, ठग, वहरिसा, सेडिया, चमारया, सांभरया, सुरलक्या, घोटापा, सोलौरया, गवाल, बेतग्या और खरड्या। बघेरवालों के ठोल्या, साखूण्या, पीतल्या, निगोत्या, पापल्या, कटार्‌या जैसे गोत्र खण्डेलवाल जैनों के गोत्रों से मिलते जुलते हैं। इन गोत्रों में २५ गोत्र मूलसंघी माने जाते हैं। चित्तौड़ किले पर जैन कीर्ति स्तम्भ साह जोजा द्वारा बनवाया गया था। ये बघेरवाल जाति के श्रावक थे। नैनवा, कोटा, बूंदी में बघेरवालों द्वारा निर्मित विशाल जिनालय हैं। देश में बघेरवालों की संख्या एक लाख से ऊपर गिनी जाती है।[१२]

५. जैसवाल

१७वीं शताब्दी के कवि बुलाखीचन्द जैसवाल जाति के थे। उन्होंने अपने **वचनकोश** (रचनाकाल संवत् १७३७) में जैसवाल जाति की उत्पत्ति जैसलमेर नगर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से मानी है।[१३] यह जाति भगवान् महावीर के उपदेश से जैन धर्म में दीक्षित हुई। जैसवाल दो उपजातियों में विभक्त हैं - एक तिरोतिया एवं दूसरा उपरोतिया। उपरोतिया जैसवाल काष्ठासंघी एवं तितोरिया मूलसंघी जैन धर्मावलम्बी हैं। उपरोतिया शाखा के ३६ गोत्र एवं तिरोतिया शाखा के ४६ गोत्र हैं। (उपरोतिया गोत्र छत्तीस, तिरोतिया गनि छयालीस) जैसवाल इक्ष्वाकु कुल के क्षत्रिय थे जो वैश्य कुल में परिवर्तित हो गए।

जैसवाल जाति में कई राजा, श्रेष्ठी, महामात्य और राजमान्य महापुरुष हो गए हैं। संवत् ११९० में जैसवाल वंशीय साहू नेमिचन्द ने कवि श्रीधर से **वर्धमानचरित** की रचना कराई। जैसवाल कवि माणिक्यराज ने **अमरसेनचरित** एवं **नागकुमारचरित** की रचना की थी। तोमरवंशीय राजा वीरमदेव के महामात्म जैसवाल कुशराज ने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ का मंदिर बनवाया था। उन्होंने संवत् १४७५ में एक यंत्र की प्रतिष्ठा करवाई थी जो आजकल नरवर के जिनालय में विराजमान है। जैसवाल कुलोत्पन्न कविवर लक्ष्मणदेव ने संवत् १२७५ में **जिणदत्तचरिउ** और संवत् १७५२ में जैसवाल कुलोत्पन्न देल्ह कवि ने **जिनदत्तचरित** की रचना की थी।[१४]

जैसवाल जैन समाज के आगरा, ग्वालियर, फिरोजाबाद, झालावाड़ आदि नगर प्रमुख केन्द्र माने जाते हैं। देश में जैसवाल जैन समाज की संख्या एक लाख से अधिक होने का अनुमान है।[१५]

६. पल्लीवाल[१६]

पल्लीवाल प्रारम्भ में दिगम्बर जैन जाति थी लेकिन विगत ३००-४०० वर्षों से इस जाति में कुछ परिवार श्वेताम्बर धर्मावलम्बी भी हो गए हैं। फिर भी वर्तमान में यह जाति मुख्यत: दिगम्बर धर्मानुयायी ही है। खण्डेला से खण्डेलवाल, अग्रोहा से अग्रवाल जाति के समान पल्लीवाल जाति की उत्पत्ति राजस्थान के पाली नगर से मानी जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार पल्लीवाल जाति का उदय दक्षिण भारत के पल्ली नगर में हुआ। चूंकि यदि पाली नगर में पल्लीवाल जाति का उद्भव हुआ होता तो यह जाति पल्लीवाल के स्थान पर पालीवाल कहलाती क्योंकि आ के स्थान पर अ के प्रयोग का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता।

फिरोजाबाद के निकट चन्द्रवाड़ नामक नगर था जिसकी स्थापना संवत् १०५२ में चन्द्रपाल नामक राजा की स्मृति में हुई थी। चन्द्रवाड़ में १०वीं शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक गहड़वालवंशीय राजाओं का राज्य रहा। इन राजाओं के अधिकांश मंत्री पल्लीवाल जैन थे। वर्तमान में पल्लीवाल आगरा, फिरोजाबाद, कन्नौज, अलीगढ़ क्षेत्र एवं ग्वालियर, उज्जैन आदि नगरों में मिलते हैं। आगरा क्षेत्र के पल्लीवालों के गोत्रों एवं कन्नौज, अलीगढ़, फिरोजाबाद के पल्लीवालों के गोत्रों में थोड़ा अन्तर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुरैना तथा ग्वालियर क्षेत्र के पल्लीवालों के ३५ गोत्र हैं। जबकि नागपुर के पल्लीवालों के १२ गोत्र ही हैं।

७. नरसिंपुरा

नरसिंहपुरा जाति के प्रमुख केन्द्र हैं राजस्थान में मेवाड़ एवं बागड प्रदेश। वैसे इस जाति की उत्पत्ति भी मेवाड़ प्रदेश के नरसिंहपुरा नगरी से मानी जाती है। इसी नगर में सेठ भाहड श्रावक रहते थे जो श्रावक धर्म पालन करते थे। भट्टारक रामसेन ने अनेक क्षत्रियों को जैनधर्म में दीक्षित कर नरसिंहपुरा जाति का उद्भव किया।[१७] इस जाति की उत्पत्ति संवत् १०२० में मानी जाती है तथा यह २७ गोत्रों में विभाजित है।

प्रतापगढ़ में नरसिंहपुरा जाति के भट्टारकों की गद्दी थी। भट्टारक रामसेन के पश्चात् जिनसेन, यशकीर्ति, उदयसेन, त्रिभुवनकीर्ति, रत्नभूषण, जयकीर्ति आदि भट्टारक हुए। ये सभी तपस्वी एवं साहित्य प्रेमी थे और प्रदेश में विहार करते हुए समाज में धार्मिक क्रियाओं को सम्पादित कराया करते थे। काष्ठासंघ नदीतट गच्छ विद्यागण नरसिंहपुरा लघु शाखा आम्नाय में भट्टारकों की संख्या ११० मानी जाती है। अन्तिम भट्टारक यशकीर्ति थे। यह जाति भी दस्सा-बीसा उप जातियों में विभक्त है। सिंहपुरा जाति भी एक दिगम्बर जैन जाति थी जो संवत् १४०४ में नरसिंहपुरा जाति में विलीन हो गई।[१८]

८. ओसवाल

ओसवाल दिगम्बर समाज की भी एक जाति रही है। ओसवाल जाति का उद्गम स्थान ओसिया से माना जाता है। ओसवालों में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही धर्मों को मानने वाले पाए जाते हैं। मुलतान से आये हुए मुलतानी ओसवालों में अधिकांश दिगम्बर धर्म को मानने वाले हैं। मुलतानी ओसवाल वर्तमान समय में जयपुर एवं दिल्ली में बसे हुए हैं जिनके घरों की संख्या करीब ४०० होगी। ऐसा लगता है कि ओसिया से जब ओसवाल जाति देश के विभिन्न भागों में जीविकोपार्जन के लिए निकली तथा पंजाब की ओर बसने के लिए आगे बढ़ी तो उसमें दिगम्बर धर्मानुयायी भी थे। उनमें से अधिकांश मुलतान, डेरागाजीखान एवं उत्तरी पंजाब के अन्य नगरों में बस गए और वहीं व्यापार करने लगे। ओसवाल दिगम्बर समाज अत्यधिक समृद्ध एवं धर्म के प्रति दृढ़ आस्था वाली जाति है। इस जाति में वर्धमान नवलखा, अमोलकाबाई, लुहिन्दामल, दौलतराम ओसवाल आदि अनेक विद्वान् एवं श्रेष्ठीगण हुए हैं।[१९]

९. लमेचु[२०]

यह भी ८४ जातियों में एक जाति है जो मूर्तिलेखों और ग्रंथप्रशस्तियों में "लम्बकंचुकान्वय" नाम से प्रसिद्ध है। मूर्ति लेखों में लम्बकंचुकान्वय के साथ यदुवंशी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा हुआ मिलता है। जिससे यह एक क्षत्रिय जाति ज्ञात होती है। इस का विकास किसी लम्बकांचन नामक नगर से हुआ जान पड़ता है। इसमें खरिया, रावत, ककोटा और पचोले गोत्रों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें बुढले और लमेचू ये दो भेद पाए जाते हैं, जो प्राचीन नहीं है। बाबू कामता प्रसाद जी ने **प्रतिमालेखसंग्रह** में लिखा है कि - "बुढले लंबेचू अथवा लम्बकंचुक जाति का एक गोत्र था, किन्तु किसी सामाजिक अनबन के कारण संवत् १५९० और १६७० के मध्य किसी समय यह पृथक जाति बन गई।" बुढेले जाति के साथ रावत संघई आदि गोत्रों का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट है कि इस गोत्र के साथ अन्य लोग भी "लबेचुओं से अलग होकर एक अन्य जाति बनाकर बैठ गए। इन जातियों के इतिवृत्त के लिए अन्वेषण की आवश्यकता है।

१०. हुंबड या हूमड[२१]

यह जाति भी पूर्वोक्त चौरासी जातियों में से एक है। यह जाति आचार्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन द्वारा संवत् ८०० के लगभग बागड़ देश में स्थापित की गई थी। यह जाति सम्पन्न और वैभवशालिनी रही है। इस जाति का निवास स्थान गुजरात, महाराष्ट्र और बागड़ प्रान्त में रहा है। यह दस्सा और बीसा दो भागों में बंटी हुई है। इस जाति में उत्पन्न श्रावक अनेक राज्यमंत्री और कोषाध्यक्ष आदि सम्मानीय पदों पर प्रतिष्ठित रहे हैं। इनमें १८ गोत्र प्रचलित हैं। खैरजू, कमलेश्वर, काकडेश्वर, उत्तरेश्वर, मंत्रेश्वर, भमेश्वर, भद्रेश्वर, गणेश्वर, विश्वेश्वर, संखेश्वर, आम्बेश्वर, बाचनेश्वर, सोमेश्वर, राजियानों, ललितेश्वर, काश्वेश्वर, बुद्धेश्वर और संघेश्वर। इसके अतिरिक्त इस जाति के द्वारा निर्मित मंदिरों में सबसे प्राचीन झालरापाटन भगवान् में शांतिनाथ का है जिसमें हुमडवंशी शाह पीपा ने वि०सं० ११०३ में प्रतिष्ठा करवाई थी। वर्तमान में हूमड समाज की जनसंख्या २-३ लाख होगी। बम्बई, उदयपुर, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, सागवाड़ा जैसे नगर इस समाज के प्रमुख केन्द्र हैं।

११. गोलापूर्व[२२]

जैन समाज की ८४ जातियों में गोलापूर्व भी एक सम्पन्न जाति रही है। इस जाति का वर्तमान में अधिकतर निवास बुन्देलखण्ड में पाया जाता है। १२वीं और १३वीं शताब्दी के मूर्ति लेखों से इसके समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है। इस जाति का निवास गोल्लागढ़ (गोलाकोट) की पूर्व दिशा से हुआ है। उसकी पूर्व दिशा में रहने वाले गोलापूर्व कहलाते हैं। यह जाति किसी समय इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय थी किन्तु व्यापार करने के कारण वणिक समाज में इसकी गणना होने लगी। मूर्तिलेखों और मंदिरों की विशालता से गोलापूर्वान्वय गौरवान्वित है। वर्तमान में भी इस जाति द्वारा निर्मित अनेक शिखरबन्द जिनालय शोभा बढ़ा रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. गोलालारे[२३]

गोगोलागढ़ ग्वालियर/गोपाचल का ही दूसरा नाम है। इसके समीप रहने वाले गोलालारे कहलाते हैं। यह उपजाति यद्यपि संख्या में अल्प रही है, परन्तु फिर भी धार्मिक दृष्टि से बड़ी कट्टर रही है। इस जाति के श्रावकों द्वारा निर्मित अनेक मूर्तियां मिलती हैं। अनेक विद्वान् तथा धनाढ्य इस जाति में थे और आज भी उनकी अच्छी संख्या है। इसके निकास का स्थान गोलागढ़ है। इनके गोत्रों की संख्या और उनके क्या-क्या नाम हैं, इसके बारे में पूरी जानकारी नहीं मिलती।

१३. गोलसिंघारे (गोलश्रृंगार)[२४]

गोलागढ़ में सामूहिक रूप से निवास करने वाले श्रावकगण गोलसिंघारे कहे जाते हैं। श्रृंगार का अर्थ यहां भूषण है जिसका अर्थ हुआ गोलागढ़ के भूषण। इस जाति का कोई विशेष इतिहास नहीं मिलता। १७वीं शताब्दी के कितने ही ग्रंथ प्रशस्तियों में इस जाति के श्रावकों का उल्लेख मिलता है। इस जाति के उदय, अभ्युदय और ह्रास आदि का विशेष इतिवृत्त ज्ञात नहीं हो सका और न ही इसमें हुए विद्वान् कवियों का ही परिचय ज्ञात हो सका।

१४. पद्मावती पोरवाल[२५]

इस जाति को परवार जाति का ही एक अंग माना जाता है जिसका समर्थन बख्तराम साह के **बुद्धिविलास** से होता है। इस उपजाति का निकास पोमाबाई (पद्मावती) नाम की नगरी से हुआ है। यह नगरी पूर्वकाल में अत्यन्त समृद्ध थी। इसकी समृद्धि का उल्लेख खजुराहो के संवत् १०५२ के शिलालेख में पाया जाता है। यह नाग राजाओं की राजधानी थी। इसकी खुदाई में विभिन्न नाग राजाओं के सिक्के आदि प्राप्त हुए हैं। इस जाति में अनेक विद्वान्, त्यागी, ब्रह्मचारी और साधु-पुरुष हुए हैं। महाकवि रइधू इसी जाति में उत्पन्न हुए थे। कविवर छत्रपति एवं ब्रह्मगुलाल भी इसी जाति के अंग थे। इनके द्वारा अनेक मंदिरों और मूर्तियों का भी निर्माण हुआ है।

१५. चित्तौड़ा[२६]

दिगम्बर जैन चित्तौड़ा समाज राजस्थान के मेवाड़ प्रदेश में अधिक संख्या में निवास करता है। अकेले उदयपुर में इस समाज के १०० से भी अधिक घर हैं। यद्यपि चित्तौड़ा जाति का उद्गम स्वयं चित्तौड़ नगर है लेकिन वर्तमान में वहां इस समाज का एक भी घर नहीं है। चित्तौड़ा समाज भी दस्सा एवं बीसा में बंटी हुई है। समाज में गोत्रों का अस्तित्व है। विवाह के अवसर पर केवल स्वयं का गोत्र ही टाला जाता है। सारे देश में चित्तौड़ा समाज की जनसंख्या ५० हजार के लगभग होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. नागदा[२७]

डूंगरपुर में ऊंडा मंदिर नागदों एवं हूंबड़ों दोनों का कहलाता है। नागदा समाज का मुख्य केन्द्र राजस्थान का बागड़ एवं मेवाड़ प्रदेश है। यह समाज भी दस्सा एवं बीसा में बंटी हुई है। उदयपुर में संभवनाथ दिगम्बर जैन मंदिर नागदा समाज द्वारा निर्मित है। नागदा समाज के उदयपुर में ही १५०-२०० परिवार हैं।

१७. चरनागरे[२८]

यह भी ८४ जातियों में से एक जाति है। मध्यप्रदेश में चरनागरे समाज प्रमुख रूप से निवास करता है। सन् १९१४ की जनगणना में इस समाज की जनसंख्या १९८७ थी।

१८. कठनेरा[२९]

यह भी ८४ जातियों में एक छोटी जाति है। कठनेरा समाज की जनसंख्या सन् १९१४ में केवल ७११ थी जो अब कितनी हो गई होगी इसका अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी यह एक जीवित जाति है।

१९. श्रीमाल[३०]

यह जाति भी दिगम्बर समाज की जीवित जाति मानी जाती है। श्रीमाल यद्यपि दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में मिलते हैं लेकिन अधिकांश जाति दिगम्बर धर्म को मानने वाली है। राजस्थान में दिगम्बर धर्मानुयायी श्रीमालों की अच्छी संख्या है।

२०. विनैक्या[३१]

यह जाति भी दिगम्बर जैन समाज का एक अंग तो रही है लेकिन यह बिखरी रही है। जैन धर्म एवं संस्कृति के संरक्षण में इस जाति का विशेष योगदान नहीं मिलता है।

२१. समैय्या[३२]

किसी भी इतिहासकार ने इस जाति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि यह परवार जाति की ही एक अंग थी लेकिन जब से तारण समाज की स्थापना हुई तथा मूर्ति पूजा के स्थान पर शास्त्र पूजा की जाने लगी तब से इस जाति का समैय्या नामकरण हो गया। यह जाति भी सागर जिले में मुख्य रूप में मिलती है। सन् १९१४ की जनसंख्या में समैय्या जाति की संख्या ११०७ थी लेकिन आज तारणपंथियों की अच्छी संख्या है। प्रारम्भ में तारण पंथ का विरोध अवश्य हुआ लेकिन वर्तमान में तारणपंथी भी दिगम्बर जैन समाज के ही अंग हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. गंगेरवाल[३३]

गंगेरवाल भी ८४ जातियों में से एक हैं। इसका गंगेडा, गंगेरवाल, गंगरीक, गोगराज एवं गंगेरवाल आदि विभिन्न नामों से उल्लेख मिलता है। पं० ऋषभराय ने संवत् १८३३ में **कविव्रतकथा** की रचना की थी। वे स्वयं गंगेरवाल श्रावक थे।

२३-२६. दक्षिण भारत की दिगम्बर जैन जातियां

दक्षिण भारत के महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु एवं कर्नाटक आदि प्रान्तों में दिगम्बर जैनों की केवल चार जातियां थीं। पंचम, चतुर्थ, कासार या बोगार और सेतवाल। पहले ये चारों जातियां एक ही थीं और पंचम कहलाती थीं। जैन धर्म वर्ण व्यवस्था का विरोधी था इसलिए उसके अनुयायियों को चातुर्वर्ण से बाहर पांचवें वर्ण का अर्थात पंचम कहते थे, लेकिन जब जैन धर्म का प्रभाव कम हुआ तो नाम रूढ़ हो गया और अन्ततः जैनों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। दक्षिण में जब वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय का उदय हुआ तो उसने इस पंचम जैनों को अपने धर्म में दीक्षित करना शुरू कर दिया और वे पंचम लिंगायत कहलाने लगे। १२वीं शताब्दी तक सारे दक्षिणात्य जैन पंचम ही कहलाने लगे। पहले दक्षिण के सभी जैनों में रोटी-बेटी का व्यवहार होता था।[३४]

१६वीं शताब्दी के लगभग सभी भट्टारकों ने अपने प्रान्तीय अथवा प्रादेशिक संघ तोड़कर जातिगत संघ बनाए और उसी समय मठों के अनुयायियों को चतुर्थ, सेतवाल, बोगार अथवा कासार नाम प्राप्त हुए। साधारण तौर से खेती और जमींदारी करने वालों को चतुर्थ; कांसे, पीतल के बर्तन बनाने वालों को कासार या बोगार और केवल खेती तथा कपड़े का व्यापार करने वालों को सेतवाल कहा जाता है। हिन्दी में जिन्हें कसेरे या तमेरे कहते हैं वे ही दक्षिण में कासार कहलाते हैं। पंचम में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के धन्धे करने वालों के नाम समान रूप से मिलते हैं। जिनसेन मठ (कोल्हापुर) के अनुयायियों को छोड़कर और किसी मठ के अनुयायी चतुर्थ नहीं कहलाते। पंचम, चतुर्थ, सेतवाल और बोगार या कासारों में परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार होता है।

सन् १९१४ में प्रकाशित दिगम्बर जैन डाइरेक्टरी के अनुसार दिगम्बर जैन जातियों में सबसे अधिक संख्या चतुर्थ जाति की थी जो उस समय ६९२८५ थी जिसके आधार पर वर्तमान में इस जाति की संख्या १० लाख से कम नहीं होनी चाहिए। इसी तरह पंचम जाति के श्रावकों की संख्या ३२५५९, सेतवालों की संख्या २०८८९, बोगारों की संख्या २४३९ तथा कासारों की संख्या ९९८७ थी।[३५] यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम दक्षिण भारत की दिगम्बर जैन जातियों के श्रावकों की ओर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि इनकी संख्या लाखों में होगी किन्तु भाषा, रीति-रिवाज की भिन्नता के कारण उनमें सामंजस्य स्थापित नहीं होता।

सन्दर्भ :

१. एच०वी० ग्लासनेप, **जैनिज्म**, भावनगर १९३७ ई०, पृ० ३२६-२७.

२-५. विलास ए० संगवे, **जैन कम्यूनिटी, ए सोशल सर्वे**, द्वितीय संशोधित संस्करण, मुम्बई १९८० ई०, पृ० ७७-७९.

६. त्रिलोकचन्द कोठारी, **दिगम्बर जैन समाज, वैचारिक विकास एवं सामाजिक दर्शन** (बीसवीं शताब्दी का समीक्षात्मक अध्ययन) अप्रकाशित शोध ग्रंथ, पृ० १०५.

७. वही, पृ० १०६-१०७; जे०एल० जैन, **दी जैन लॉ**, आरा १९१६ ई०, पृ० १७.

८. एच०एच० रिसले, **ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल**, भाग १, कलकत्ता १८९१ ई०, पृ० ७.

९. कोठारी, पूर्वोक्त, पृ० ११३.

१०. **फूलचन्द शास्त्री अभिनन्दन ग्रंथ**, सम्पादक - बाबूलाल जैन, वाराणसी १९८५ ई०.

११-१२. कस्तूरचन्द कासलीवाल, **खण्डेलवाल जैन समाज का बृहद इतिहास**, जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, बरकतनगर, जयपुर, प्रथम संस्करण, १९८९ ई०, पृ० ५२.

१३. कस्तूरचन्द कासलीवाल, **कविवर बुलाखीचन्द्र, बुलाकीदास एवं हेमराज**, श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर १९८३ ई०, पृ० १०८-११४.

१४. डॉ० माता प्रसाद गुप्त, **जिनदत्तचरित**, साहित्य शोध विभाग, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर १९६६ ई०, पृ० १.

१५. रामजीत जैन एडवोकेट, **जैसवाल जैन इतिहास**, लश्कर १९८८ ई०.

१६-१७. कस्तूरचन्द कासलीवाल, **खण्डेलवाल जैन समाज का बृहद इतिहास**, पृ० ५४-५५.

१८-२०. कोठारी, पूर्वोक्त, पृ० १२०-१२१.

२१. विलास ए० संगवे, पूर्वोक्त, पृ० ९२.

२२. सुरेन्द्रकुमार जैन, **गोलापूर्व जैन समाज इतिहास एवं सर्वेक्षण**, पारस शोध **संस्थान, सागर १९९६ ई०.**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३. रामजीत जैन एडवोकेट, **गोलालारे जैन जाति का इतिहास**, प्रकाशक - मेसर्स लालाराम वीरसेन जैन सर्राफ, सदर बाजार, भिण्ड १९९५ ई०.

२४-२५. कासलीवाल, **खण्डेलवाल जैन समाज का बृहद इतिहास**, पृष्ठ ५६ और आगे.

२६-२७. वही, पृ० ५९.

२८-२९. विलास ए० संगवे, पूर्वोक्त, पृ० ८८-८९.

३०. सी०एम० दोशी, **दशा श्रीमाली जैन बनियाज् ऑफ काठियावाड़**, बाम्बे, १९५३ ई०, पृ० ५४.

३१-३३. कोठारी, पूर्वोक्त, पृ० १२९.

३४. विलास ए० संगवे, पूर्वोक्त, पृ० ९२-१०१.

३५. कोठारी, पूर्वोक्त, पृ० १३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धसेन दिवाकर का जैन दर्शन को अवदान

डा० किरण श्रीवास्तव*

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जैन साहित्य के संस्कृत भाषा में तर्कपूर्ण काव्यमय स्तुति की रचना करने वाले प्रथम दार्शनिक हैं। उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में नई दृष्टियाँ दीं एवं जैन न्याय का बीजारोपण किया और जैन सिद्धान्तों की तर्क पुरस्सर सूक्ष्म चर्चा कर तात्त्विक मान्यताओं पर चिन्तन-मनन का द्वार उद्घाटित किया।

आचार्य सिद्धसेन ने आगमों में बिखरे अनेकान्त सुमनों को माला का रूप देते हुए अनेक मौलिक तथ्यों को भी जनमानस के सामने रखा। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता में मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान पर ज्ञेय रूप का समर्थन; प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के रूप में प्रमाण त्रयी की कल्पना; प्रत्यक्ष और अनुमान में स्वार्थ-परार्थ की अनुभूति और प्रमाण लक्षण में स्वपरावभासक के साथ बाधविवर्जित रूप को सुनिश्चित करना सिद्धसेन की अपनी मौलिक सूझ ही थी।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के जैन दर्शन को दिए गए अवदान का उनके द्वारा संस्थापित कतिपय दार्शनिक मान्यताओं के आलोक में मूल्यांकन किया जा सकता है जो निम्न हैं :

(१) दर्शन और ज्ञान के युगपत् भाव का प्रतिपादन (पक्ष-विपक्ष)
(२) नयों का पुनर्वर्गीकरण
(३) ज्ञान और क्रिया के एकान्तिक आग्रह का निराकरण
(४) अनेकान्त व्यवस्थापन

(१) दर्शन और ज्ञान के युगपत् भाव का प्रतिपादन (पक्ष-विपक्ष) :

आचार्य सिद्धसेन ने दर्शन और ज्ञान के अभेद की एक नयी परम्परा स्थापित की। जैनों के सर्वज्ञ के दर्शन और ज्ञान को भिन्न मानने की इस आगमिक परम्परा पर उन्होंने प्रहार किया और अपने तर्क बल से यह सिद्ध किया कि सर्वज्ञ के दर्शन और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञत्व के स्तर पर पहुँचकर दोनों एक रूप हो जाते हैं। उन्होंने अवधि और मनः पर्यय तथा ज्ञान और दर्शन को भी एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

* *पूर्व शोध छात्रा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त के अंगभूत दर्शन एवं ज्ञान की मीमांसा में उन्होंने अपने विशिष्ट प्रतिभा का परिचय देते हुए अपने उपयोग अभेदवाद की स्थापना की है। केवल दर्शन और केवल ज्ञान की उत्पत्ति क्रम से होती है ऐसा मत पहले से आगम परम्परा में प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त इन दोनों की उत्पत्ति युगपत् होती है ऐसा मत भी प्रचलित था। इन दोनों मतों के सामने सिद्धसेन ने अपना अभेदवाद रखा। उन्होंने क्रमवादिता और युगपत्वादिता में दोष दिखाते हुए अभेदवाद या एकोपयोगवाद की स्थापना की। इस क्रम में ज्ञानावरण और दर्शनावरण का युगपत् क्षय मानते हुए यह भी बतलाया है कि दो उपयोग एक साथ कहीं नहीं होते और केवली में वे क्रमशः भी नहीं होते। ज्ञान और दर्शन उपयोगों का भेद मनः पर्यय ज्ञान अथवा छद्मावस्था तक ही चलता है। केवल ज्ञान हो जाने पर कोई नहीं रहता।

चूंकि केवली नियम से अस्पृष्ट पदार्थों को जानता है और देखता है। इसलिए भेद के बिना भी अभेदरूप से ज्ञान और दर्शन सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सिद्धसेन केवली के ज्ञान दर्शनोपयोग विषय में अभेदवाद के पुरस्कर्ता हैं। टीकाकार अभयदेवसूरि और ज्ञानबिन्दु के कर्ता उपाध्याय यशोविजय ने इसी मत का प्रतिपादन किया है।

(२) नयों का पुनर्वर्गीकरण :

सिद्धसेन दिवाकर ने नयों का पुनर्वर्गीकरण किया। उन्होंने जैनागमों में प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों के स्थान पर छः नयों की स्थापना की। नैगम को स्वतंत्र नय न मानते हुए उसे संग्रह एवं व्यवहार में समाविष्ट कर दिया जो द्रव्यास्तिक नय के भेद हैं। संग्रह और व्यवहार के बाद ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत इन चार नयों को पर्यायास्तिक नय के भेद कहा है। द्रव्यास्तिक नय यानी अभेदगामीदृष्टि, पर्यायास्तिक नय यानि भेदगामी दृष्टि। मनुष्य जब भी कुछ सोचता या कहता है तब या तो अभेद की ओर झुककर या फिर भेद की ओर झुककर। अभेद की ओर झुककर किए गए विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु को संग्रह या सामान्य कहते हैं। भेद की ओर झुककर किए गए विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तु को विशेष कहते हैं। अवान्तर दृष्टि से सामान्य और विशेष के चढ़ते उतरते क्रम से चाहे जितने भेद किए जाएं पर वे सभी भेद संक्षेप में दो राशियों में समाविष्ट होते हैं। वे ही दो राशियां अनुक्रम से संग्रहप्रस्तार और विशेष प्रस्तार हैं। शास्त्र के वचन मुख्य रूप से इन दो राशियों में आ जाते हैं। क्योंकि उनमें से कुछ सामान्य बोधक होते हैं और कुछ विशेष बोधक। इन दो राशियों के समाविष्ट होने वाले सभी शास्त्रीय वचनों की प्रेरक दृष्टि भी मुख्य रूप से दो हैं।[१] सामान्यवचन राशि का प्रेरक अभेदगामी दृष्टि द्रव्यास्तिक नय है और विशेष वचन राशि की प्रेरक भेदगामी दृष्टि पर्यायास्तिक नय है। ये दोनों नय ही समग्र विचार अथवा विचार जनित समस्त शास्त्र वाक्य के आधारभूत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से इन्हें शास्त्र का मूल वक्ता कहा गया है। इन दो नयों के निरूपण और इनके समन्वय में ही अनेकान्तवाद का पर्यवसान होता है। जिसे सिद्धसेन ने कुशलता से **सन्मति तर्क** में किया है।

जगत् किसी भी प्रकार के एक्य से रहित केवल अलग-अलग कड़ियों की भांति भेद रूप भी नहीं है और तनिक भी भेद के स्पर्श से रहित अखण्ड अभेद रूप भी नहीं है। परन्तु उसमें भेद ओर अभेद दोनों का अनुभव होता है।[२]

उसे जब भी कोई व्यवहार करना होता है तब दृष्टि कुछ भेद की तरफ झुकती है और पहले ग्रहण किए हुए सत्रूप अखण्ड तत्त्व के प्रयोजन के अनुसार जीव-अजीव आदि भेदों का अवलम्बन लेती है। यहाँ सत्ता रूप तत्त्व को अखण्ड रूप से ग्रहण करने वाली प्रथम दृष्टि संग्रह नय है। यह शुद्ध द्रव्यास्तिक नय है और सत्ता को जीव-अजीव आदि रूप से खण्डित करके उसके द्वारा व्यवहार चलाने का प्रयत्न करने वाली परिमित अभेदस्पर्शी दूसरी दृष्टि व्यवहार नय है। व्यवहार परिमित होने से अपरिमित संग्रह का ही अंश है। इसलिए यद्यपि वह शुद्ध द्रव्यास्तिक का एक परिमित खण्ड है फिर भी संग्रह और व्यवहार इन दोनों को द्रव्यास्तिक नय के अनुक्रम से शुद्ध अपरिमित और शुद्ध परिमित अंश कह सकते हैं।

संग्रह और व्यवहार के बाद ऋजुसूत्र, समभिरूढ़ तथा एवंभूत इन चार नयों को पर्यायास्तिक का भेद कहा है।[३] किसी भी सामान्य तत्त्व का अवान्तर जाति या गुण आदि की विशेषताओं को लेकर विभाग किया जा सकता है। परन्तु जब तक उस विभाग में काल कृत भेद का तत्त्व नहीं आता तब तक वे सब विभाग व्यवहार नय की कोटि में रखे जाते हैं। कालकृत भेद का अवलम्बन लेकर वस्तु विभाग का आरम्भ होते ही ऋजुसूत्र नय माना जाता है और वही नय पर्यायास्तिक का प्रारम्भ समझा जाता है। इसी से यहाँ पर ऋजुसूत्र को पर्यायास्तिक नय का मूल आधार कहा गया है। बाद के शब्द आदि जो तीन नय हैं वे यद्यपि ऋजुसूत्र का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होने से उसी के भेद हैं तथा ऋजुसूत्र आदि चारों नय पर्यायास्तिक के प्रकार माने जा सकते हैं।[४]

जो दृष्टि तत्त्व को केवल वर्तमान काल तक ही मर्यादित मानती है और भूत एवं भविष्य काल को कार्य का असाधक मानकर उन्हें स्वीकार नहीं करती, ऐसी क्षणिक दृष्टि ऋजुसूत्र नय कहलाती है। इस दृष्टि द्वारा मान्य वर्तमानकालीन तत्त्व में भी जो दृष्टि लिंग और पुरुष आदि के भेद से भेद की कल्पना करती है वह शब्द 'नय' है। शब्द नय द्वारा मान्य सामान्य लिंग वचन आदि वाले अनेक शब्दों के एक अर्थ में व्युत्पत्ति के भेद से - पर्याय के भेद से जो दृष्टि अर्थ भेद की कल्पना करती है वह समभिरूढ़ नय है। समभिरूढ़ नय द्वारा एक पर्याय शब्द के एक अर्थ में जो भी दृष्टि क्रिया काल तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ तत्त्व मानती है और क्रिया शून्य काल में नहीं, उसे एवंभूत नय कहते हैं। ऐसा चारों नयों का स्वरूप है।[५] इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द आदि तीन नय मात्र वर्तमान कालस्पर्शी ऋतुसूत्र नय के आधार पर उत्तरोत्तर सूक्ष्म विशेषताओं को लेकर प्रवृत्त होते हैं और वे सब उसी के विस्तार हैं। ऋजुसूत्र नय एक वृक्ष जैसा है, तो शब्द नय उसकी शाखा (डाल) है। समभिरूढ़ उसकी प्रशाखा - टहनी है और एवंभूत उस टहनी की भी प्रतिशाखा - सबसे छोटी और पतली शाखा है।

(३) ज्ञान और क्रिया के एकान्तिक आग्रह का निराकरण :

ज्ञान और क्रिया के एकान्तिक आग्रह को चुनौती देते हुए सिद्धसेन ने घोषणा की कि ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं। ज्ञान और शक्ति रहित क्रिया उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार क्रिया रहित ज्ञान अर्थहीन है। ज्ञान और क्रिया का सम्यक् संयोग ही वास्तविक सुख प्रदान कर सकता है। जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं।

साधना मार्ग में ज्ञान और क्रिया के श्रेष्ठतत्त्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक युग में जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है वहाँ औपनिषदिक युग में ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। भारतीय चिन्तकों के समक्ष प्राचीन समय से ही यह समस्या रही है जिसका समाधान ज्ञान और क्रिया का समन्वय कर किया गया है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती युग में जब श्रमण परम्परा देहदण्डनपरक तप साधना में और वैदिक परम्परा यज्ञ-यागपरक क्रियाकाण्डों में ही साधना की इति श्री मानकर मात्र आचरणात्मक पक्ष पर बल देने लगी थी तो उन्होंने उसे ज्ञान से समन्वित करने का प्रयास किया था। महावीर और उनके बाद जैन विचारकों ने भी ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित आचरण पथ का उपदेश दिया। जैन विचारकों का यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं सांख्य परम्पराओं की समीक्षा करते हुए **उत्तराध्ययनसूत्र** में स्पष्ट कहा गया कि, कुछ विचारक मानते हैं कि पाप का त्याग किए बिना ही मात्र आर्यतत्त्व को जानकर ही आत्मा सभी दु:खों से छूट जाती है। लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।[६] **सूत्रकृतांग** में कहा है कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रों का जानकार हो अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो, यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कर्मों के कारण दु:खी ही होगा।[७] अनेक भाषाओं का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता, मन्त्रादि विद्या भी उसे कैसे बचा सकती है? असत् आचरण में अनुरक्त अपने आपको पण्डित मानने वाले लोग वस्तुत: मूर्ख ही हैं।[८] आचरण विहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार समुद्र से पार नहीं होते। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से, बिना आचरण के कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव में जहाज को इच्छित किनारे पर नहीं पहुँचा सकता वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप, संयम रूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[९] मात्र जान लेने से कार्य सिद्धि नहीं होती। तैरना जानते हुए भी कोई कार्य चेष्टा न करे तो डूब जाता है। वैसे ही शास्त्रों को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नहीं करता वह डूब जाता है।[१०] चन्दन ढोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता मात्र वाहक ही बना रहता है। वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी के ज्ञान भाव का वाहक मात्र है। इससे उसे कोई लाभ नहीं होता।[११] ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक प्रसिद्ध अंध-पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जैसे वन में दावानल लगने पर पंगु उसे देखते हुए भी गति के अभाव में जल मरता है और अन्धा सम्पर्क मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है वैसे ही आचरणविहीन ज्ञान पंगु के समान है और इस चक्षुविहीन आचरण अन्धे के समान है। आचरणविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन आचरण निरर्थक है और संसार रूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ है। जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता अकेला अन्धा अकेला पंगु इच्छित साध्य तक नहीं पहुँचते वैसे ही मात्र ज्ञान या मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती वरन् दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।

(४) अनेकान्त की व्यापकता :

अनेकान्त दृष्टि एक प्रकार की प्रमाण पद्धति है। वह अत्यन्त व्यापक है। जैसे वह अन्य सभी प्रमेयों में लागू होकर उनका स्वरूप निश्चित करती है वैसे ही वह अपने विषय में भी लागू होती है और अपना स्वरूप विशेष स्फूट करती है। प्रमेयों में लागू होने का यह अर्थ है कि उनके विषय में स्वरूप विषयक जो अलग-अलग दृष्टियाँ बनी हुई हैं, उन सबका योग्य रूप से समन्वय करके अर्थात् उन सब दृष्टियों का स्थान निश्चित करके प्रमेयों का स्वरूप कैसा होना चाहिए यह स्थिर करना। जैसे कि जगत् के मूल तत्त्व और जड़ - चेतन के विषय में अनेक विचार हैं। कोई उन्हें मात्र भिन्न मानता है तो कोई मात्र अभिन्न। कोई मात्र नित्य मानता है तो कोई मात्र अनित्य रूप मानता है। कोई एक मानता है तो कोई अनेक कहता है। अत: अनेक विकल्पों के स्वरूप तारतम्य और अविधपने का विचार करके समन्वय करना कि ये तत्त्व सामान्य दृष्टि से देखने पर अभिन्न नित्य और एक हैं तथा विशेष दृष्टि से देखने पर भिन्न नित्य और एक भी हैं। प्रमेय के विषय में अनेकान्त की प्रवृत्ति का यह एक उदाहरण हुआ।[१२]

इसी प्रकार अनेकान्त दृष्टि जब अपने बारे में होती है तब अपने स्वरूप के विषय में वह सूचित करती है कि वह अनेक दृष्टियों का समुच्चय होने से अनेकान्त तो है ही परन्तु वह एक स्वतंत्र दृष्टि होने से उस रूप में अनेकान्त दृष्टि भी है। इसी तरह अनेकान्त दूसरा कुछ भी नहीं है, वह तो भिन्न-भिन्न दृष्टि रूप इकाइयों का सच्चा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोड़ है। ऐसा होने से वह अनेकान्त होने पर भी एकान्त भी है ही। अलबत्ता इसमें इतनी विशेषता है कि यह एकान्त यथार्थता का विरोधी नहीं होना चाहिए। सारांश यह है कि अनेकान्त में सापेक्ष (सम्यक्) एकान्तों को स्थान है ही।

जिस प्रकार अनेकान्त दृष्टि एकान्त दृष्टि के आधार पर उपस्थित मन्तव्यों के आधार पर बचने की शिक्षा देती हैं। वैसे ही वह अनेकान्त दृष्टि के नाम से जाने जाने वाले एकान्त आग्रहों से भी बचने की शिक्षा देती है। जैसे प्रवचन एकान्त रूप है ऐसा मानने वाले भी यदि उसमें हुए विचारों को एकान्त रूप से ग्रहण करें तो, वह स्थूल दृष्टि से अनेकान्त सेवी होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से एकान्ती ही बन जाते हैं वे सम्यक् दृष्टि नहीं रहते।

जैन दर्शन में संसारी जीव के छः निकाय बताये गये हैं। जीव की छः जातियाँ हैं ऐसा एकान्त मानने पर चैतन्य रूप से जीवतत्त्व का एकत्व भुला दिया जाता है और दृष्टि में मात्र भेद ही आता है। अतः पृथ्वीकाय आदि छः विभागों को एकान्त रूप से ग्रहण न करके उनमें चैतन्य के रूप में जीव तत्त्व का एकत्व माना जाय तो वह यथार्थ ही है। इसी तरह आत्मा एक है तथा अनेक है। इस तरह के भिन्न-भिन्न शास्त्रीय वाक्य का समन्वय होता है।

इसी प्रकार जीवघात को एकान्त हिंसा रूप समझने में भी यथार्थता का लोप होता है क्योंकि प्रसंग विशेष में जीव का घात हिंसा रूप नहीं भी होता है। कोई अप्रमत्त मुनि सम्पूर्ण रूप से जागृत रहने पर भी, सावधानी रखने पर भी जब जीव को नहीं बचा सकता तब उसके द्वारा हुआ वह जीव घात हिंसा की कोटि में नही आता। तात्पर्यतः कभी-कभी जीवघात अहिंसा की कोटि में भी आता है। अतः जीवघात को एकान्त हिंसा रूप या एकान्त अहिंसा न मानकर योग्य रूप से उसका स्वभाव समझने में ही अनेकान्त दृष्टि है और यही सम्यक् दृष्टि है।[१३]

(५) जैन दर्शन के प्रमाण शास्त्र को सिद्धसेन का अवदान :

न्याय शास्त्र या प्रमाण शास्त्र में दार्शनिकों ने प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार तत्त्वों के निरूपण को प्राधान्य दिया है। आचार्य सिद्धसेन ही प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने **न्यायावतार** जैसी छोटी सी कृति में जैन दर्शन सम्मत् इन चारों तत्त्वों की व्याख्या करने का सफल व्यवस्थित प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रमाण और उसके भेद - प्रभेदों का लक्षण बताया है। खास कर अनुमान के विषय में तो उसके हेत्वादि सभी अंग प्रत्यंगों की संक्षेप में मार्मिक चर्चा की है।

सिद्धसेन दिवाकर प्रथम जैन तार्किक लेखक हैं। इन्होंने पहली बार तर्क को जैन धर्म की अन्य विधाओं से अलग किया और ३२ श्लोकों में **न्यायावतार** की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचना की जिसमें प्रमाण शास्त्र के अनेक अंगों का सम्यक् विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ के माध्यम से सिद्धसेन ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए कहा है कि प्रमाण वह ज्ञान है जो "स्व" और "पर" को बिना किसी बाधा के प्रकाशित करता है। यह प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का होता है। प्रमाण की यह परिभाषा योगाचार बौद्ध दार्शनिकों की प्रमाण की परिभाषा से सर्वथा भिन्न है जो यह मानते हैं कि ज्ञान केवल स्वयं को प्रकाशित करता है। क्योंकि वह यह मानते हैं कि बाह्यार्थ की सत्ता ही नहीं है। सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रस्तुत प्रमाण की यह परिभाषा नैयायिक तथा मीमांसकों के उस परिभाषा का भी खण्डन करती है जो यह मानते हैं कि ज्ञान केवल बाह्य सत्ता को ही प्रकाशित करता है, वह स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता। जैन दर्शन यह मानता है कि ज्ञान स्व और पर को एक साथ प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक दीपक अपने प्रकाश के साथ-साथ अन्य बाह्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। सिद्धसेन ने प्रमाण की परिभाषा में जो बाधविवर्जित पद का निवेश किया है वह प्रमाण को मिथ्या ज्ञान से अलग करने के लिए किया। उदाहरणार्थ वह व्यक्ति जिसे नेत्र दोष हो उसे दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। अतः सिद्धसेन ने जो प्रमाण विषयक संशोधन किया है वह अपने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ :

१. **सन्मतिप्रकरण,** गाथा ३, पृ० २.
२. वही, गाथा ४, पृ० ४.
३. वही, गाथा ५, पृ० ४.
४. वही, गाथा ५, पृ० ६.
५. वही.
६. **उत्तराध्ययनसूत्र,** ६, १, १०.
७. **सूत्रकृतांग,** २/१/६.
८. **उत्तराध्ययन,** ६/११.
९. **अवश्यनिर्युक्ति,** ९५/९६.
१०. वही, ११५१-५४.
११. वही, १००.
१२. वही, १०१-१०२
१३. **सन्मतिप्रकरण,** गाथा २७, पृ० ७४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वनस्पति और जैन आहार शास्त्र

नंदलाल जैन*

वनस्पति हमारे आहार के प्रमुख स्रोत हैं। ये हमें १. अशन (अन्न और दालें), २. पान (दुग्ध, धृत, जल व फल आदि), खाद्य (मिठाई, पौष्टिक खाद्य) एवं ४. स्वाद्य (लौंग, इलायची आदि) के अनेक कोटि के पदार्थों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रदान करते हैं। इनके अनेक रूप होते हैं : १. कच्चे या अपक्व, २. कालपक्व, ३. अनग्निपक्व या ४. अशस्त्र परिणत। ये प्राकृतिक रूप में पाये जाते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि ये प्राकृतिक रूप में साधुओं और उच्चतर कोटि के श्रावकों को नहीं खाना चाहिये, पर सामान्य जन और पाक्षिक श्रावक इनका प्राकृतिक और परिवर्तित रूप में भी अपने आहार में उपयोग करते हैं। शास्त्रों में प्राकृतिक आहार्य वनस्पतियों के लिये आम, आमक, आर्द्र, सचित्त और अनग्निपक्व आदि अनेक शब्द आये हैं जिनका अर्थ प्राय: एक-सा ही है। तथपि क्षुल्लक ज्ञान भूषण जी ने सामान्यत: इनको सचित्त एकेन्द्रिय जीव कहा है।[१] पं० आशाधर ने भी इन हरित कायों को सचित्त ही कहा है।[२] साथ ही, उन्होंने 'सचित्त' शब्द को 'अभक्ष्य' शब्द से भिन्न अर्थयुक्त माना है। अभक्ष्य केवल वे पदार्थ माने हैं जो त्रस-घात-समाहारी हों। श्वेतांबर ग्रंथों में, अशस्त्र-परिणत शब्द भी आया है जिससे सचित्त का ही बोध होता है।[३]

वनस्पतियों के भेद-प्रभेद

शास्त्रों में, सामान्यत: वनस्पति के दो प्रकार बताये गये हैं : १. प्रत्येक शरीरी (एक शरीर-एकजीव) और २. साधारण शरीरी (एक शरीर-अनेक जीव) इनमें प्रत्येक की १. सप्रतिष्ठित (जीव-आधारित, सामान्यत: परजीवी) और २. अप्रतिष्ठित के रूप में पुन: द्विधा वर्गीकृत किया है। इनमें से, **धवला** के अनुसार, बादर-निगोद-प्रतिष्ठित योनिभूत वनस्पति मूली, अदरक, सूरण, थूहर आदि हैं और बादर-निगोद-अयोनिभूत-प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरी में निगोद तो रहते हैं, पर उनका विकास नहीं होता। इसके विपर्यास में, बादर-निगोद-अप्रतिष्ठित-प्रत्येक शरीर वनस्पति शुद्ध प्रत्येक शरीरी हैं।[४]

हमारे आहार में, सामान्यत:, दोनों प्रकार के प्रत्येक शरीरी वनस्पति होते हैं। **धवला** ३.१.२.८७ में मूली, अदरक (कंदमूल) आदि को, बादर-निगोद योनिभूत प्रतिष्ठित को प्रत्येक शरीरी ही बताया है। इसे **धवला** के ही १.१.४१ में भी पूर्व

* *जैन सेंटर, रीवा, म०प्र०.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में बताया गया है। दिगम्बर ग्रंथों में प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरी वस्पतियों के कुछ उदाहरणों को छोड़कर, अनेक नाम नहीं मिलते। इसके विपर्यास में **प्रज्ञापना**[५] एवं **जीवाभिगम** आदि में प्रत्येक शरीरी बादर वनस्पतियों के बारह प्रकार और उनके प्राय: ३५० नाम गिनाये गये हैं। इनमें से अनेक-हरित, औषधि, धान्य, शाक आदि के फल, पर्व, बीज आदि हम आहार एवं औषधि में काम में लेते हैं। ये सभी वनस्पति प्रकृति में कच्चे या कालपक्व रूप में पाये जाते हैं। इन्हें 'आम' शब्द से निरूपित किया जाता है। फलत: 'आम' शब्द का अर्थ केवल सचित्त सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति मात्र नहीं लेना चाहिये। आम या अन्य समानार्थी शब्दों से सभी प्रकार के हरे या कच्चे वनस्पतियों (चाहे वे साधारण कोटि के हों या प्रत्येक के) को लेना चाहिये।

दिगम्बर ग्रंथों की तुलना में, **प्रज्ञापना** आदि ग्रंथों[६] में साधारण वनस्पतियों के प्राय: १०० नाम दिये गये हैं जिनमें अनेक कंद और मूल आते हैं। इन्हें बादर निगोद कहा जाता है। साधारणत: जैन लोग इन्हें भूमिगत तनेवाले पौधे कहते हैं। इनके अंतर्गत, वनस्पतिशास्त्रियों के अनुसार, निम्न कोटियां आती हैं[७] :

१. प्रकंद (रि-जोम) : हल्दी, अदरक आदि

२. कंद (ट्यूबर) : आलू आदि

३. शल्क कंद (बल्ब्स) : प्याज, लहसुन आदि

४. घन कंद (कौर्म) : क्रोकस आदि

इसके अनुसार, जैनों द्वारा स्वीकृत कंद-मूल या गड़ंत वनस्पतियां इन चार कोटियों में समाहित हो जाती हैं। इन वनस्पतियों का तना जमीन के अंदर मूर्तरूप लेता है और ऊपरी अंश को पोषण देता है। वनस्पतिशास्त्री हल्दी और अदरक की कोटि को, लहसुन और प्याज तथा आलू की कोटि से भिन्न मानते हैं। शायद ये धूप में सुखाये या परिवर्तित किये जा सकते हैं, फलत: इनकी भक्ष्यता उतनी जड़मूल नहीं है जितनी आलू आदि की है क्योंकि वे धूप द्वारा सुखाये नहीं जा सकते, वे केवल अग्निपक्वन से परिवर्तित किये जा सकते हैं। यहां अग्नि से पारंपरिक अग्नि के अतिरिक्त विद्युत-भट्ठी, माइक्रोवेव या अन्य आधुनिक तेजस्कायिक उत्पादी उपकरण भी लेने चाहिये। सामान्यत: प्रयोग में आने वाले इस कोटि के वनस्पति निम्न हैं : १. अदरक, २. हल्दी, ३. मूली, ४. गाजर, ५. प्याज, ६. लहसुन, ७. आलू, ८. धुइयां, ९. शकरकंद, १०. जमीकंद, ११. सूरणकंद, १२. मूंगफली, १३. शलजम आदि। इन कंदमूलों का पत्तेवाला भाग जमीन के ऊपर रहता है। यह माना जाता है कि पत्तीवाला भाग भूतलीय अंश है और भक्ष्य है और भूमिगत अंश भक्ष्य नहीं है। प्रकृति में ये 'आम' या 'सचित्त' अवस्था में पाये जाते हैं और इनका अग्निपक्वन या शस्त्र परिणमन किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन वनस्पतियों की स्थूलता के कारण इनमें अनंत सूक्ष्मजीव, संभवत: निगोदिया जीव, होते होंगे। ये वनस्पति भी प्रकृति में पाये जाते हैं और ये 'हरित' या 'आम' होते हैं। लेकिन ये साधारण वनस्पति प्रत्येक कोटि से भिन्न हैं क्योंकि इनमें एक ही शरीर में अनेक से लेकर अनंत तक जीव रहते हैं। सूक्ष्म अवस्था में इनमें निगोद (अनंत जीवों को स्थान देने वाले) या निगोत कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि सुई की एक नोंक के बराबर स्थान में असंख्यात निगोद जीव होते हैं। यदि हम सुई की नोंक का आकार $१०^{-४}$ सेमी० मानें और असंख्यात का मान सामान्य गणना के अनुसार महासंख के समकक्ष $१०^{२०}$ मानें (यह मान जैन मान्यतानुसार, सही नहीं है।), तो एक सूक्ष्म निगोदिया जीव $१०^{-२४}$ सेमी० साइज का गोलाकार या अन्य आकार का होगा। इस तरह एक सेमी० विस्तार में कम से कम $१०^{२४}$ निगोदिया जीव हो सकते हैं (अनंत न भी मानें, तो)। आज के वनस्पति-विज्ञानी की सजीव कोशिका साइज $१०^{-४}$ सेमी० के लगभग होती है। अत: आधुनिक वनस्पति विज्ञान में इन जीवों की समकक्षता पाना कठिन ही है। इतने सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व तो केवल-ज्ञान गम्य है। पर आधुनिक वैज्ञानिकों के लिये साधारण वनस्पतियों की अनंत जीवकायता किंचित् विचारणीय है। अनंतों की एक-कायता, अनेकों की एक-कायता के रूप में माने जाने पर ये वैज्ञानिकों के परजीवी वनस्पति के समकक्ष माने जा सकते हैं। **धवला** ३.१.२.८७ में इन्हें 'एक-सरीर द्रियबहूही जीवेहिं सह' के रूप में बताया है। 'बहु' शब्द अनंतार्थक कब हो गया, यह अनुसंधेय है। फिर भी, इतने छोटे-से विस्तार में इतने अधिक जीवों के कारण, धार्मिक दृष्टि से, इनकी सचित्त य अचित्त भक्ष्यता विचारणीय हो गई है। यही नहीं, साधारण-वनस्पति की परिभाषा बहुत जटिल है, सामान्यजनों के लिये बोधगम्य भी नहीं है। पौधों के विभिन्न भागों में विविध कोटि की वनस्पतिकता के उल्लेख **प्रज्ञापना** में दिये गये हैं।[८]

आहार की आवश्यकता

प्राय: सभी जीव आहार-पानी के बिना अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते चाहे वे पारमार्थिक संसारी जीव हों या व्यावहारिक संसारी जीव। दोनों को ही आहार अनिवार्य है। वस्तुत: व्यावहारिक संसारी व्यवहार-मार्ग अपनाकर पारमार्थिकता की ओर अग्रसर होकर जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करता है। व्यावहारिक संसारी जीव अपने स्वास्थ्य-रक्षण एवं रोगमोक्षण के माध्यम से समुचित आहार-विहार ग्रहण कर धर्म-साधन कर पारमार्थिक जीव बन सकता है। जन्म से कोई पारमार्थिक नहीं होता। **मूलाचार** ४७९ में भी आहार के अनेक उद्देश्यों में आवश्यक क्रियाओं, संयम और धर्म के पालन के उद्देश्य बताये गये हैं।[९] इसीलिये 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनं' की उक्ति बलवती हो गयी है। यह कितना मनोरंजक एवं हास्यास्पद मत है कि धर्म और शरीर स्वास्थ्य परस्परत: असंबद्ध हैं।[१०] यदि ऐसा ही होता, तो आयुर्वेद पर ग्रंथ क्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखे जाते और नैपुणिकों की गणना में चिकित्सक का समाहरण क्यों किया जाता, जबकि यह आगमिक परंपरा में पापश्रुत माना जाता है (**स्थानांग**, स्थान ९)?[११] क्या इनके लेखक आचार्य परमार्थी नहीं थे? वस्तुत:, आहार एवं स्वास्थ्य अन्योन्य संबद्ध हैं। समुचित पोषक आहार ही स्वास्थ्य और धर्म का पालक-रक्षक होता है। अत: आहार की गुणवत्ता पर सामान्य जन की ये क्रियाऐं निर्भर करती हैं। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आहार-विज्ञानी बताते हैं कि हमारे लिये समुचित मात्रक सप्त-घटकी आहार होना चाहिये जिसमें (१) शर्करा, (२) बसा, (३) प्रोटीन, (४) खनिज, (५) विटामिन, (६) हार्मोन और (७) जल होना चाहिए।[१२] इनमें कुछ घटक प्रत्येक वनस्पतियों से प्राप्त होते हैं और कुछ साधारण वनस्पतियों से।

दिगम्बर आम्नाय वर्तमान में यह मानता है कि साधारण वनस्पतियों को किसी भी रूप में किसी को भी आहार में नहीं लेना चाहिये। इसके विपर्यास में, श्वेतांबर आम्नाय में इस पर किंचित् स्वैच्छिकता है।

वनस्पतियों की भक्ष्यता : किसके लिये?

क्षुल्लक ज्ञान भूषण जी ने अपने 'सचित्त विवेचन' में इन वनस्पतियों की भक्ष्यता पर प्रकाश डाला है। ये विचार बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में व्यक्त किये गये थे। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण १९९४ में दिगम्बर सम्प्रदाय की विश्रुत संस्था वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, जयपुर से अजमेर जैन समाज के सौजन्य से प्रकाशित हुआ है। इसमें साधारण वनस्पतियों की भक्ष्यता का आगम से और व्यावहारिकत: समर्थन किया गया है। इस युग में अनेक विद्वानों ने भी इस पर सकारात्मक चर्चा की। इसके विवरणों पर कोई समीक्षा देखने में नहीं आयी और उनकी शिष्य मंडली भी इस विषय में मौन है। इससे यह अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि प्राचीन परम्परावादियों में तथा इस युग के विचारकों में आहार के हरित या साधारण वनस्पति अंश के प्रति विसंवादिता है। शास्त्रीय गाथाओं, शब्दों की व्याकरण-संमत, ऐकान्तिकत: अर्थापतित एवं सकारात्मक व्याख्या की भिन्नता ही इसका कारण है।

पूज्य क्षुल्लकजी (उत्तरवर्ती आचार्य ज्ञानसागर जी) ने यह बताया है कि अभक्ष्यता का संबंध त्रसन्धाती खाद्यों से है। स्थावरों की अभक्ष्यता उनके चार रूपों में से केवल तीन रूपों (वनस्पति, वनस्पतिकायिक एवं वनस्पति जीव) के कारण है जिनमें सजीवता या सचित्तता होती है। यदि साधारण वनस्पति वनस्पतिकाय (दूसरा भेद) के रूप में हो, तो वह भक्ष्य है। वनस्पति का यह रूप अचित्त या निर्जीव होता है। सचित्ताहार त्याग जीवन के उच्चतर स्तर (शिक्षाव्रत या पांचवीं प्रतिमा) पर ही नियमित होता है। इसे सामान्य जन या पाक्षिक श्रावक पर लागू करना सही नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी जीव (विशेषत: जिनके मुनि होने या मोक्ष जाने की संभावना है) चार प्रकार के माने जाते हैं : १. सामान्य जन, २. श्रावक जन (तीन प्रकार के) ३. साधुजन एवं ४. अभव्य जन। पहली तीन कोटियां भव्य भी कहलाती हैं। इनमें साधुजन जो अल्पसंख्यक ही होते हैं - प्राय: पैंतीस सौ में एक (**संपर्क २०००** के अनुसार दिगम्बरों में सभी कोटि के त्यागी जनों की संख्या ८१८ है और दिगंबर प्राय: ५० लाख तक माने जा सकते हैं)।[१३] इनकी आहार-विहार संहिता परमार्थ-मुखी हो सकती है। साथ ही, नैष्ठिक एवं सल्लेखना-मुखी साधक श्रावकों की संख्या भी अल्प ही होगी, मान लीजिये त्यागियों से दुगुनी अर्थात् एक हजार में एक के लगभग होगी। प्राचीन जैन शास्त्रों में इन्हीं से संबंधित आहार-विहार का वर्णन है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्राचीन जैन आहार-विहार केवल ३ प्रतिशत जैनों के लिये ही है। इसीलिये पश्चिमी विचारक जैनधर्म को अल्पसंख्यकों के धर्म होने का आरोप लगाते हैं।[१४] इस आरोप का निराकरण आवश्यक है। क्षुल्लक ज्ञानभूषण जी ने सही लिखा है कि पारमार्थिक या संयमी जीवों का मार्ग, गृहस्थों की तुलना में, उल्टा ही होता है। कहां इंद्रिय दमन और कहां इंद्रिय पोषण, कहां स्थूल हिंसा का त्याग और कहां सूक्ष्म हिंसा का भी त्याग? दोनों के लिये एक-सी आचार संहिता कैसे बन सकती है? पं० आशाधर जी ने सही लिखा है कि गृहस्थ जन चारित्रमोही होते हैं, अत: उनके लिये त्यागियों का नहीं, गृहस्थधर्म ही श्रेयस्कर है। हमें जैन मान्यताओं को बहुसंख्यक-पालनीय बनाना होगा। फलत: पाक्षिक श्रावक एवं सामान्य जन की बहुसंख्यक कोटि और गृहस्थ एवं व्यवसाय भरे जीवन के लिये शुद्ध पारमार्थिक संहिता लाभकारी नहीं है। वस्तुत: गृहस्थों के आचार-विचार से संबंधित अष्ट मूलगुण, सात व्यसन या बाइस अभक्ष्य की धारणा उत्तरवर्ती है जो मध्य युग में उनके जीवन को धर्म-मुखी बनाने के लिये विकसित की गई होगी। यह प्राचीन आचार्यों के शास्त्रीय युगानुकूलन का एक उदाहरण है। यद्यपि **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** ३८ की शुभचंद्री टीका (सोलहवीं सदी) में दर्शन प्रतिमा में अनेक वस्तुओं के न खाने की बात कही गई है, पर कंद-मूल न खाने का संकेत वहां नहीं है।[१५] हां, **चारित्रपाहुड** २१ की श्रुतसागरी टीका (सोलहवीं सदी) में कंदमूलों के त्याग का संकेत है,[१६] पर उन्हें अभक्ष्य नहीं कहा गया है। इनकी अभक्ष्यता के रूप में गणना संभवत: उत्तरवर्ती **व्रत-विधान संग्रह**, **धर्मसंग्रह** या **पंचसंग्रह** के युग से प्रारंभ हुई होगी। इसीलिए प्राचीन ग्रंथों में इस रूप में इनका उल्लेख नहीं पाया जाता। फिर भी, अभक्ष्य (या त्रसघात) त्याग पहले होता है और सचित्त त्याग उसका पर्याप्त उत्तरवर्ती चरण है।

केवल धार्मिक दृष्टि से यह धारणा सही हो सकती है कि हिंसा-अहिंसा की दृष्टि से, प्रत्येक शरीरी वनस्पतियों के सचित्त या अचित्त रूप में आहरण में हिंसा अल्प होगी। क्षुल्लक ज्ञानभूषण जी ने भी यही कहा है कि हरित या सचित्त वनस्पतियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुष्क, निर्जीव और अग्निपक्व अचित्त वनस्पतियों की अपेक्षा अधिक सदोष हैं। पर संसार में प्राणियों में केवल धर्म-संज्ञा ही नहीं होती, उनमें आहार, निद्रा, भय, मैथुन और आवेगों की संज्ञायें भी होती हैं। इनके लिये आवश्यक स्वस्थवृत्त भी धार्मिक दृष्टि से स्वीकृत होना चाहिये। इन संज्ञाओं के कारण भी अनेक प्रकार की अनिवार्य हिंसा होती है। इसी प्रकार, कृषि, व्यवसाय, शिल्प आदि में भी हिंसा के अनेक रूप अनिवार्यत: समाहित होते हैं। इस प्रकार की हिंसा, कंद-मूल-भक्षणजन्य हिंसा की तुलना में पर्याप्त बहुमानी होती है।

वस्तुत: साधारण वनस्पतियों की दो कोटियां हैं : १. शर्करा या कार्बोहाइड्रेटी (धान्यों के समान आलू, धुइयां और कंद आदि) और २. अ- शर्करीय (हल्दी, अदरख आदि)। इनमें से अधिकांश का रासायनिक संघटन ज्ञात हो चुका है। इनमें शाकों की अपेक्षा जलांश कम होता है। इनकी खाद्य-घटकीयता बहुमूल्य है। प्रथम कोटि के पदार्थों में सुपाच्य शर्करायें होती है जो स्वास्थ्य-लाभ में सहायक होती हैं और दूसरी कोटि में रोग-प्रतिकार-क्षमता तथा क्षारतत्त्व के घटक होते हैं। इसीलिये प्राचीन ग्रंथों में इन्हें साधुओं के लिये भी अग्निपक्व-कर खाने का उल्लेख है। यह भी विचारणीय है कि **भगवती** २३.१ में साधारण वनस्पतियों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु मात्र अंतर्मुहूत ही बताई है।[१७] इससे क्या यह फलित होता है कि वे अंतर्मुहुर्त के बाद प्रत्येक वनस्पति के रूप में परिवर्तित हो जाते होंगे? यह उनके बहुकोशिकीय रूप ग्रहण करने से ही संभव है। इसमें अनेक कोशिकाओं के तिल-पपड़ी में तिलों या लड्डू में कणों के बंध के समान श्लेष होने में पर्याप्त ऊर्जा व्ययित होती है, फलत: इनकी प्रतिकोशिका प्राणशक्ति कम हो जाती है। इसीलिये संभवत: **प्रज्ञापना** १.४९ में अनेक पत्तेवाली भाजियां व मूली आदि प्रत्येक वनस्पति में गिनायी गयी हैं।[१८]

जीवों की कोशिकीय संरचना के आधार पर वनस्पतियों का प्रत्येक एवं साधारण रूप में वर्गीकरण अब एक ऐतिहासिक तथ्य है।[१९] दोनों प्रकार के बादर वनस्पति बहुकोशिकीय पाये गये हैं जो अपने विकास के समय नित्य नई कोशिकाओं का सर्जन एवं विनाशन करते रहते हैं। अनंतकायिक को बहुकोशिकीय वनस्पति मानने पर उनसे संबंधित धार्मिक एवं भक्ष्याभक्ष्य संबंधी समस्यायें भी पर्याप्त समाधान पा सकती हैं।

कंद-मूलों की अभक्ष्यता के तर्कों की समीक्षा

अनेक जैन वनस्पतिशास्त्री यह मानते हैं कि साधारण वनस्पति के कच्चे या अग्निपक्व आहरण में धार्मिक दृष्टि से निम्न दोष हैं[२०, २१] :

अ. भूमिगत कंदों को उखाड़ने के कारण पौधे का जीवन-चक्र पूर्ण नहीं हो पाता है और वह नष्ट हो जाता है। इससे उसके अवयवी जीवों या कोशिकाओं की हिंसा होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब. भूमिगत कंद-मूलों को उखाड़ने पर उनसे भूमि में चहुं ओर संपर्कित सूक्ष्म जीवों का जीवन-चक्र भी नष्ट हो जाता है।

स. कंद-मूलों में सांद्रित जीवन होता है।

द. भूमिगत कंद-मूलों को आहरण के लिये उखाड़ने पर भूमिगत और भूमितलीय पर्यावरण संतुलन प्रभावित होता है।

इ. धार्मिक ग्रंथों में कंद-मूलों का आहरण अनिंदित नहीं है।

(अ) यह सुज्ञात है कि भूमितलीय पौधे, फल एवं शाक भी हम प्राय: कच्चे या अग्निपक्व ही खाते हैं। इनकी पूर्ण-पक्वता इनके सूखने के समय ही आती है जब वे प्राय: अखाद्य और अरुचिकर हो जाते हैं। ककड़ी, कुम्हड़ा, परवल, भिंडी आदि सभी बहु-बीजक कौन पूर्ण-पक्व होने पर खाता है? बहु-बीजकीय अभक्ष्यता के साथ क्या प्रत्येक शरीरी वनस्पति सचित्त नहीं होते? क्या इनकी जीव-कोशिकीय रचना के आधार पर इनके आहरण में बहु-घात नहीं होता? भूतल पर भी इनको मूल पौधों से तोड़ने और खाने में एक या अनेक पौधों का जीवन चक्र नष्ट होता है। इनमें भी अगणित एकेंद्रिय सूक्ष्म कोशिकायें होती हैं। हां, इनमें सामान्यत: न तो त्रसजीव होते हैं और न ही ये मद्य, भांग आदि के समान कोई हानि उत्पन्न करते हैं। अत: इन्हें भी क्यों न अभक्ष्य माना जावे? हां, कुछ लोग इन्हें कच्चा तोड़कर सुखाते हैं और फिर सूखे की ही सब्जी खाते हैं। पर इसमें भी सुखाने से जीवन चक्र तो नष्ट होता ही है। भूमिगत तनों के रूप में उपलब्ध कंद-मूलों को भी लोग खाने योग्य या समुचित पक्व होने पर ही भूमितलीय फल-फूलों के समान सचित्त या अचित्त अवस्था में खाते हैं। फलत: उनके आहरण में दोष मानना समुचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि ये भी कोशिकीय ही होते हैं। इस मत का समर्थन अनेक जैव वनस्पति शास्त्रियों ने किया है। रही बात, अधिक स्थावर हिंसा की, सो सामान्य जन सूक्ष्म हिंसा के त्यागी नहीं होते और ये आहार के अल्पमात्रिक घटक हैं। अनेक कंद-मूल तो विशेष परिस्थितियों में ही खाये जाते हैं। फलत: इनके आहरण में भी हिंसा अल्प ही होती है। फलत: बहुघात का दोष उचित नहीं है।

(ब) कंदमूल के आहार के रूप में ग्रहण करने के विपक्ष में प्रबलतर तर्क उनके उखाड़ने के समय उनके चहुं ओर पाये जाने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं के पीड़न-हिंसा-जन्य संभावित पापबंध से संबंधित है। इस विषय में भी यह मनोरंजक है कि फूलों की शोभा और उपयोगिता उनके माध्यम से प्रभु पूजन जन्य पुण्यार्जन, पुष्पहारों के माध्यम से स्वयं तथा अन्यों को सुवासित एवं सम्मानित करने तथा महिलाओं की सुषमा हेतु वेणी बनाने आदि में मानी जाती है। यद्यपि शुद्ध अहिंसक जन इसके समर्थक नहीं हैं, वे तो निर्जीव सूत्र-गुच्छ और अब तो प्लास्टिक गुच्छादि का दीप-ज्वलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रक्रिया के विद्युत बल्ब जलने के समान, उपयोग करते हैं। वे तो दूध के उपयोग का भी विरोध करते हैं - वेगन सोसायटी इसका उदाहरण है। ये पुष्पादि विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में गरिमा लाते हैं। इनके सुवासित अवस्था में तोड़ने में भी हिंसन तो होता ही है। इनके समान ही, कंद-मूल पदार्थों की उपयोगिता भी शारीरिक स्वास्थ्य-संरक्षण और संवर्धन में विशेष है क्योंकि इनमें ऐसे घटक होते हैं जो शरीर की रोग-प्रतिकार क्षमता बढ़ाते हैं और रुग्ण को निरोग बनाने में सहायक होते हैं, विषमय कृमियों एवं जीवाणुओं को नष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ, प्याज में एलिल-प्रोपिल डाइसल्फाइड, अनेक लवण एवं विटामिन, लहसुन में डाइ-एलिल एवं एलिल-प्रोपिल सल्फाइड, अदरक-सोंठ में अनेक खनिज तथा औषधीय तैल, हल्दी में कर्क्युमिन तथा सूरणकंद में कैलसियम ऑक्जेलेट तथा आलू में सुपाच्य शर्करा के समान अनेक दोषनिवारक घटक होते हैं।[२२] यदि जीवन एवं स्वास्थ्य रक्षण के प्रक्रमों के निमित्त किये जाने वाले अल्पमात्रिक हिंसन को मान्यता न दी जावे, तो कृषि-कर्म और उसके अधिहिंसा-मूलक उत्पादों का आहरण-उपभोग भी सर्वाधिक प्रतिबंधित होना चाहिये। यही नहीं, कोई भी सांसारिक प्राणी के श्वासोच्छास, भोजन का चयापचय, आहार, संभोग आदि सभी कार्यों में असंख्यात करोड़ सूक्ष्म जीवों (**सूत्रप्राभृत**, गाथा २४)[२३], पर्याप्त स्थावर और अन्य जीवों की हिंसा होती है। इसीलिये **पुरुषार्थसिद्धिउपाय**, श्लोक ७६-७७ में कहा गया है कि गृहस्थ को अपने जीवन में त्रस-हिंसा का त्याग अवश्य करना चाहिये, स्थावर हिंसा में तो वह असमर्थ ही होगा।[२४] वह उसके लिये अनिवार्य है। साधु भी इससे नहीं बच सकते। हां, स्थावर हिंसा का भी अल्पीकरण करने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुत: सचित्त के अचित्तीकरण में भी हिंसा है, फिर भी आत्महित एवं परहित की दृष्टि से उसे उपेक्षणीय माना गया है और ऐसे व्यक्ति को दयालु तक कह दिया गया है।[२५]

इस दृष्टि से, कंद-मूलों के उखाड़ते समय उनसे चहुं ओर सहचरित सूक्ष्म या स्थूल जीवों के हिंसन की पाप-बंधकता पर विचार करना चाहिये। इस संबंध में यह अनुमान करना चाहिये कि ये जीव भूतल में ही रहते हैं और भूतल का वातावरण भी उनकी सजीवता में सहायक बना रहता है एवं कंद-मूलों को उखाड़ने के बाद भी बना रहेगा। फलत: इस आधार पर जितनी हिंसा की बात की जाती है, उससे आधी भी होगी, यह विचारणीय है। वैसे तो जैन आचार्य अपने वर्गीकरण-विशेषज्ञता एवं गणितीय प्ररूपणों के लिये प्रसिद्ध हैं, पर हिंसा-अहिंसा की चर्चा करते समय वे उसकी परिमाणात्मकता के प्रति मौन ही रहे। संभवत: वे भावों या परिणामों की गणितीयता में निष्णात न हो पाये हों। फिर भी वे अत्यंत चतुर थे, जीवन के रक्षण और धार्मिक कार्यों के लिये उन्होंने 'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशि'[२६] कहकर तीन प्रकार की हिंसाओं के पाप को, आत्महित तथा परहित साधन के लिये, दुर्बल बना दिया। आत्मरक्षण या परहित की इच्छा में संकल्प का अभाव-सा मानकर उसके कारण होने वाली तीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसाओं को असंकल्पी बताकर उपेक्षणीय बता दिया। कंद-मूल संबंधी हिंसा की कोटि भी इसी दुर्बल कोटि में आती है। 'विश्व-जीवचिते लोके' की धारणा से अनेक प्रकार की संज्ञाओं एवं व्यवसायों के कारण पांच स्थावर एकेन्द्रियों से ही संबंधित हमारी दैनिक हिंसावृत्ति कितने परिमाण में होगी, यह परिकलित करना बड़ा कठिन है। फिर भी, यह अनंत मानी जा सकती है। यदि अनंत का मान उत्कृष्ट असंख्यात+१ मान लिया जाय और उत्कृष्ट असंख्यात का न्यूनतम मान उत्कृष्ट-संख्यात+१ अर्थात $१०^{५१}\times१०^{२१३}$ (*साइंटिफिक कटेंट्स इन प्राकृत कैनन्स*, पेज २८९-९०)[२७] मान लिया जाय, प्रत्येक व्यक्ति की दैनिक हिंसा का मान $१०^{५१}\times१०^{२१३}\times१२०$ (समग्र हिंसा के यूनिट) $\times ५\times१०^{५}=६\times१०^{२७४}$ यूनिट होगा। इसी प्रकार हम सामान्यत: ८ वर्ग सेमी० कंद-मूलों (जैसे आलू - यह उन सभी कंद मूलों का प्रतिनिधि है जिन्हें हम न्यूनाधिक मात्रा में आहार में लेते हैं) का अपने आहार में प्रयोग करते हैं। कृषि विज्ञानियों एवं श्री मार्डिया ने इसमें विद्यमान साधारण जीवों (सूक्ष्म जीव, कोशिकायें, जिन्हें वैज्ञानिक देख सकते हैं) की संख्या $१०^{८}$ प्रति वर्ग सेमी० और सजीवता $१०^{३}$ यूनिट मानी है। इस आधार पर दैनिक भोजन में कंदमूल-जन्य हिंसा $८\times१०^{८}\times१०^{३}\times१२\sim१०^{८}$ यूनिट होगी। यदि इसके खोदने आदि की एवं आश्रित एकेन्द्रिय जीवों के हिंसन की बात भी जोड़ी जाय, तो यह संख्यात के आधार पर (संख्यात-अचलात्म, $१०^{१२२}$, **त्रिलोकप्रज्ञप्ति**) निम्न होगी :

$१०^{१२२}\times१०^{८}\times१०^{-३}\times३$ (कृत हिंसा) $\times८$ वर्ग सेमी $=२.४\times१०^{१२७}$ यूनिट। फलत: कंद-मूल के उखाड़ने एवं भक्षण में होने वाली कुल हिंसा $१०^{८}+२.४\times१०^{१२७}\sim२.४\times१०^{१२७}$ यूनिट होगी। यह हमारी दैनिक हिंसा, $१०^{२७४}$ के मान की तुलना में नगण्य ही होगी। ($१०^{-१४४}$)। इस प्रकार, कंदमूल के आहार से संबंधित हिंसा हमारी समग्र दैनिक हिंसा का नगण्य भाग है।[२८] इसके लिये इतना आग्रह समुचित नहीं लगता। आचार्य चंदना जी भी यह मानती हैं कि दुग्ध-उत्पादों का उपयोग, सिल्क की वेषभूषा तथा कृषि कर्म और उसके उत्पादों के उपयोग से संबंधित हिंसा की तुलना में कंद-मूलों के उत्पादन एवं भक्षण-जन्य हिंसा नगण्य है (**जैन स्पिरिट**, अक्टूबर, ९९ पृष्ठ १८)।[२९] वस्तुत: हम हिंसा के समुद्र को अहिंसा की नाव से पार करना चाहते हैं। इसकी संभावना कितनी है, यह विचारणीय है।

शास्त्र बताते हैं कि हमारे आहार का हमारी मानसिकता एवं व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। फलत: हमारा आहार सात्विक होना चाहिये। इसके अंतर्गत स्वास्थ्य के लिये उपयोगी कंद-मूलों के प्रभाव की दृष्टि से उनकी अल्पमात्रिक घटकता के आधार पर डॉ० राजकुमार जैन[३०] एवं **तीर्थंकर** ने भी विचार किया है[३१] और कहा है कि इससे आचारगत पवित्रता खंडित नहीं होती और स्वास्थता तथा दीर्घ-जीविता भी प्राप्त होती है। यह पवित्रता या सात्विकता देश-काल-सापेक्ष होती है और खाद्यों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्धता पर निर्भर करती है। यही नहीं, ललवानी ने तो यह भी कहा है कि जो वस्तु हिंसा से उत्पन्न होती है, उसका उपयोग या उपभोग कर हम हिंसा से किसी प्रकार भी नहीं बच सकते। कृत, कारित, अनुमोदन के सिद्धांत के प्रचालन में हिंसा से उत्पन्न पदार्थों के उपयोग में हिंसा कैसे न मानी जाय? सचित्त को अचित्त करने में भी तो जीवघात होता है। यह तो अच्छा है कि सारा संसार जैन नहीं है, नहीं तो उसे सिवाय सल्लेखना के और कोई चारा ही न रहता। वस्तुत: अहिंसा की इतनी सूक्ष्म व्याख्या उत्तरवर्ती आचार्यों की देन है जिससे उसमें व्यावहारिकता का भी लोप हो गया लगता है। अत: इस कोटि के पदार्थों की आत्यंतिक अभक्ष्यता वर्तमान पोषाहार के वैज्ञानिक युग में प्रचण्ड विचार के घेरे में आ गई है। इसका आधार, जैसा पहले कहा है, हिंसा-अहिंसा के अतिरिक्त संज्ञाओं पर भी वैज्ञानिकत: आधारित होना चाहिये।

(स) कंद-मूलों में सांद्रित जीवन होने की बात इसलिये कही जाती है कि इनमें प्रत्येक वनस्पतियों की तुलना में जलांश कम होता है। फलत: इनके यूनिट क्षेत्रफल में सजीव या प्रसुप्त कोशिकाओं की संख्या अधिक होगी। चूंकि प्रसुप्त कोशिकाओं में चैतन्य (जो जीवन का लक्षण है और हिंसा का आधार है) की सामान्य मात्रा हरितकायों की तुलना में अल्प होती है, अत: हिंसन का मान अल्प ही होता है। वैसे भी भावप्राणों या चैतन्य गुण का विनाश ही हिंसा माना जाता है। मात्र शरीर विनाश हिंसा नहीं है।

(द) कंदमूल के आहरण से भूमिगत पर्यावरण के असंतुलित होने की युक्ति में हिंसा पर आधारित विशेष महत्व नहीं है। यह तो प्रकृति स्वयं संतुलित करती रहती है। वस्तुत: पर्यावरण का असंतुलन हमारी जनसंख्या वृद्धि एवं आवश्यकता वृद्धि पर निर्भर करता है। इसके कारण हम प्रकृति से अधिक लेते हैं, फलत: वह असंतुलित होती है। इसके लिये जनसंख्या के साथ आवश्यकताओं या इच्छाओं के नियमन की आवश्यकता है। इस विषय में हमारे साधु-संतों एवं नेताओं को जनता जनार्दन को सजग करना चहिये। केवल ईश्वर और भक्ति की महिमा इस दिशा में काम न करेगी।

(इ) वर्तमान आगमकल्प ग्रन्थ जिनवाणी या आचार्य वाणी

'सुत्तेण अणिंदितं' के विषय में भी यह प्रश्न विचारणीय है कि हम 'सुत्त' या 'आगम' किसे मानें? आगमों के विभिन्न कोटि के मन्तव्यों में युगानुकूलन होता रहा है। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार परिवर्धनीयता या वर्णनात्मकता रही है। यही जैन धर्म की दीर्घजीविता का मुख्य कारण है। उनकी प्रमाणिकता ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही माननी चाहिये और ज्ञान-विज्ञान के इस युग में उनकी त्रैकालिक प्रामाणिकता की धारणा का मूल्यांकन करना चाहिये। आपवादिक स्थितियों के निर्देश के आधार पर कुछ प्राचीन ग्रंथों को पूर्णत: अप्रामाणिक मान लेना उदार दृष्टिकोण नहीं है। इन निर्देशों से ही संकेत मिलता है कि प्राचीन ग्रंथों के वर्णन द्रव्य, क्षेत्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल, भाव-सापेक्ष होते हैं। उन्हें उसी रूप में देखना चाहिये। वैसे भी, आज के उपलब्ध आगम-कल्प ग्रंथ तो त्रिकाल-व्यापिनी जिनवाणी नहीं हैं, वे सदियों बाद उत्पन्न आचार्यों की वाणी हैं जिन्होंने अपने विचारों को प्रामाणिक मानने के लिये जिनवाणी का आधार लिया है। इसका अनंत अनन्तवां भाग ही उन्हें मिला है। इनके कथनों में विरोध भी देखा जाता है। इस अर्थ भिन्नता की ओर परम्परावादी ध्यान नहीं देते हैं। नेमचन्द्र शास्त्री ने अपने ग्रंथ[३२] और एन०एल० जैन ने एक लेख[३३] में अनेक आंतर और अन्तरा-विरोधों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। प्रस्तुत प्रकरण से संबंधित सारणी-१ से भी उक्त तथ्य समर्थित होता है:

१. जहां **भावप्राभृत** के टीकाकार श्रुतसागर आदि विभिन्न कंदों तथा प्याज, लहसुन, अदरक, हल्दी आदि को कंद कहते हैं, मूली गाजर आदि को मूल कहते हैं, वहीं **मूलाचार** का मत इससे कुछ पृथक है।

२. **धवला** १.१.४१ में आर्द्रक, मूलक, स्नुग (थूहर) आदि को प्रत्येक कोटि का बताया गया है (इस प्रकार इन्हीं की आर्द्ररूप में भी भक्ष्यता सिद्ध होती है) जबकि **मूलाचार** में इन्हें अनंतकाय माना है। **धवला** का मत ही **प्रज्ञापना** में है।

३. अनेक कोटि के वनस्पतियों को दोनों ही कोटि में बताया गया है (शायद विभिन्न अवस्थाओं में)। फलतः उनकी भक्ष्यता की परिस्थितियां विचारणीय हो गई हैं। वस्तुतः प्रतिष्ठित/अप्रतिष्ठित/साधारण वनस्पति की परिभाषाओं के बावजूद भी व्यक्तिगत वनस्पतियों के विभिन्न अवयवों के और उनके भी विविध अंशों के स्वरूप निर्धारण में अस्पष्टता इतनी है, कि वह केवल विद्वानों के लिये ही बोधगम्य है। सामान्य जन न तो इस कोटि में आते हैं और न वे त्यागी हो सकते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आगमों की समयानुकूलन की प्रवृत्ति के कारण इनमें परिवर्तन/परिवर्धन होता रहा है। इसलिये मध्ययुग की अभक्ष्यता के आधार पुनर्विचारणीय हैं। उनके निंदित या अनिंदित के वक्तव्य आज के संवर्धित ज्ञान की दृष्टि से परीक्षणीय हैं।

अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि कंदमूलों की भक्ष्यता सचित्त रूप में हो, 'आम' रूप में हो या इसके भिन्न रूप में हो। इस पर विचार अपेक्षित है।

अर्थापतित या निषेध-परक अर्थ की द्वितःप्रवृत्ति

ऐसा प्रतीत होता है कि समंतभद्र, वट्टकेर या कुंदकुंद के समान प्राचीन आचार्यों की प्राकृत गाथाओं में प्रयुक्त आम, आमक या सचित्त शब्द का कोशकारीय अर्थ प्रकृत्या अपक्व, अनग्निपक्व, कच्चा या सजीव ही है जैसा मुनि रत्नचंद्र जी ने पंचभाषीय **अर्धमागधी कोष**[३४] में या आप्टे ने **संस्कृत-अंग्रेजी कोष**[३५] में दिया है। कोशकारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अर्थ को अनुचित कहने का अर्थ उनकी विद्वत्ता के प्रति अन्याय ही कहा जाएगा। व्युत्पत्तिजन्य या रूढ़ अर्थों का उल्लेख भी वहां किया जाता है। इसी प्रकार सचित्त शब्द भी है। यह आम का समानार्थी भी माना जा सकता है। यदि व्युत्पत्तिजन्य या रूढ़ अर्थ को शास्त्रानुसार व्यक्त करने में एक ओर अर्थापत्ति (सम्यकत्वं च, न देवा: आदि) का उपयोग किया जा सकता है, तो अन्य प्रकरणों में उसकी उपयोगिता क्यों नहीं मानी जाती?[३६] वस्तुत: 'आम' शब्द सामान्य वनस्पति के विशिष्ट प्राकृतिक रूप का द्योतक है, सप्रतिष्ठित प्रत्येक या साधारण वनस्पति मात्र का नहीं। इस प्रकार अर्थापत्ति के समान ही निषेध के आधार पर विधि भी अर्थापतित हो जाती है, अनुमानित हो जाती है। जैनधर्म को वैसे ही निषेध प्रधान या नकारात्मक माना जाता है, तो क्या उसका सकारात्मक पक्ष ही कोई नहीं होगा? नकारात्मक अहिंसा, करुणा, प्रेम और भाईचारे का प्रतीक है। फलत: निषेध के आधार पर विधि का अनुमान सहज ही लग जाता है। यह सामान्य प्रवृत्ति है। इसका एक उदाहरण **मूलाचार** ४७३ (पृष्ठ ३६६) की टीका में दिये गये 'परिणतानि ग्राह्यानीति' के रूप में दिया गया है।

शास्त्रों में आम और सचित कंदमूलों की स्थिति

विभिन्न ग्रंथों में आहार और उसके घटकों या उनके त्याग के संबंध में दो प्रकरणों में विवरण पाया जाता है : १. भोगोपयोग-परिमाण व्रत और . सचित्त त्याग प्रतिमा जिसकी कोटि व्रत से उच्चतर होती है। इस प्रतिमाधारी के आहार में सचित्त वनस्पतियों का प्राय: आजन्म और संपूर्ण त्याग किया जाता है। इसके विपर्यास में, भोगोपभोग परिमाण व्रत में भोजन-घटकों का परिमाण, कुछ का त्याग तथा त्याग-काल परिमाण भी समाहित होता है। सामान्य जन इन दोनों ही कोटियों में नहीं आते। अत: इनसे संबंधित आहार नियम उन पर अनिवार्यत: लागू नहीं किये जा सकते। हां, यदि कोई इच्छुक है, तो वह नियमों के पालन का अभ्यास कर सकता है। इस संबंध में हम यहां कुछ शास्त्रों में विद्यमान विवरणों पर प्रकाश डालेंगे। इनके आधार पर शास्त्रीय विद्वान् इस चर्चा को निषेधात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। हम निषेध से अर्थापतित विधि रूप में प्रस्तुत करेंगे।

अ. भोगोपभोग परिमाण व्रत

भोगोपभोग परिमाण व्रत से संबंधित **रत्नकरंडश्रावकाचार** के श्लोक ८५ में अल्प-फल बहु-विधात के रूप में आर्द्र अदरख व मूली (कुछ फूल) के अनाहरण का संकेत है। यदि इन्हें कंद-मूल का प्रतिनिधि माना जाय, तो केवल आर्द्र या सचित्त साधारण वनस्पति का निषेध प्राप्त होता है, अचित्त या शस्त्रपरिणत अनंतकाय का नहीं। वस्तुत: इस व्रत में संपूर्ण त्याग नहीं, अपितु एकाधिक वनस्पतियों के रूप में परिमित काल के लिये त्याग किया जाता है। यह तो सचित्त त्याग प्रतिमा है जहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सचित्तों के त्याग की पूर्णता होती है। **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** की गाथा ३५० में तो केवल तांबूल (पत्र-शाक का प्रतिनिधि) के परिमित त्याग की बात कही गई है। इसके विपर्यास में, गाथा ३७९ में भी सात के बदले पांच सचित्तों के खाने का निषेध है। गाथा ३५० में आदि शब्द भी नहीं है जिससे गाजर आदि कंद-मूलों का समावेश हो। (शायद ये उस युग में ज्ञात न हों?) ये गाथायें स्थावर-हिंसा की अधिकता के किंचित् नियमन की प्रतीक हैं। इसके साथ ही, व्रत भी उच्चतर श्रेणी का है। कितने लोग इस श्रेणी में आते हैं?

श्रावक के आठ मूल-गुणों में भी कंद-मूल समाहित नहीं है। अहिंसा व्रत के अतिचारों और भावनाओं में भी इनका नाम नहीं है। हां, वहां आलोकितपान भोजन अवश्य है जो सभी का कर्त्तव्य है।

सागारधर्मामृत ५.२० में भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचारों में सचित्ताहार का नाम है, अचित्ताहार का नहीं। साथ ही, न सेवन करने योग्य पदार्थों में अनिष्ट और अनुपसेन्य की चर्चा है जो अभक्ष्यता की कोटियों के अपवाद मार्ग हैं। वहां कलींदा, सूरणकंद एवं द्रोणपुष्प के परिमित काल न खाने का उल्लेख है। वस्तुतः अचित्ताहार को कहीं भी दोष नहीं बताया गया है। यह सर्वत्र अर्थापतित एवं विधिरूप मे अनुमत माना जाता है। इसमें स्वाभिप्राय-पोषण या अ-विचारणा का कोई प्रश्न नहीं है।

सचित्तत्याग प्रतिमा

रत्नकरंडश्रावकाचार का श्लोक १४१ पांचवीं सचित्त प्रतिमा के लिये है। यहां सात प्रकार की 'आम' अर्थात् अपक्व, हरित या सचित्त वनस्पतियों या उनके अवयवों के आहरण का निषेध है। इससे अर्थापतित अचित या अचित्तकृत रूप में ग्रहण करने की विधि प्राप्त होती है। जब पांचवीं प्रतिमा के लिये अचित्त आहरण अर्थापतित है, तो प्रतिमाविहीन श्रावक की तो बात ही क्या? इस श्लोक का 'आम' शब्द भी वनस्पति के सभी रूपों का विशेषण है। इसे विशिष्ट वनस्पति के रूप में विशेष्य नहीं माना जा सकता। मूल-फल-शाक-आदि में अचित्तता लाकर ही उन्हें भक्ष्य बनाया जा सकता है। **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** में भी गाथा ३७९ में सात के स्थान पर पांच सचित्तों के त्याग की बात कही गई है।

भावपाहुड़ गाथा १०० भी मुनि-चर्या से संबंधित है। इसमें भी सचित्त भक्त-पान से संसार-भ्रमण की बात कही है। आगे की गाथा १०१ में सचित्त श्रेणी के कुछ पदार्थों का नाम है जिसकी टीकाकार ने व्याख्या की है। सचित्त न खाये, तो क्या खाये? फलतः यहां भी अचित्ताहार के विषय में, **रत्नकरंडश्रावकाचार** के समान ही, विधि आपतित होती है। यदि ऐसा न होता, तो श्रुतसागर के प्रायः समकालीन शुभचंद्र ने अचित्तीकरण की विधियां या श्वेतांबर आगमों के वृत्तिकारों ने शस्त्र-परिणमन के अनेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाय क्यों बताये होते? क्या सचित्त और हरित शब्द में केवल प्रत्येक वनस्पति ही आते हैं? यहां भी सचित्त शब्द विशेषण है और किंचि शब्द से कन्द मूलादि के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसी कोटि के पदार्थों (जैसे विशिष्ट ककड़ी आदि) का अर्थ लिया गया है। गाथा के अनुसार, सभी कंद-मूल आदि अपनी प्राकृतिक अवस्था में सचित्त हैं। साहित्याचार्य ने तो इस गाथा के अनुवाद में गेहूं आदि धान्यों के सूखे बीजों को योनिभूत मानकर सचित्त बताया है। तो क्या अन्न भी नहीं खाना चाहिये? अचित्तीकरण की विधियां साधारण और प्रत्येक-दोनों कोटि की वनस्पतियों पर लागू होती हैं। यह मान्यता सही नहीं लगती कि साधारण कोटि के वनस्पति अचित्तीकृत नहीं होते या वे अनंतकायिक अवस्था में ही बने रहते हैं। वे अनंतकाय हो जाते हैं, फलतः भक्ष्य हैं।

सागारधर्मामृत के श्लोक ७.८ में सचित्तविरत के विवरण में भी, अप्रासुक, हरित, अंकुर एवं बीज के त्याग एवं सचित्त भोजन के त्याग का ही संकेत है। इसका भी विधि परक अर्थ ही लेना चाहिये।

इसी प्रकार, **मूलाचार** एक श्रमणाचार विषयक ग्रंथ है। उसकी गाथा ८२७ में अनग्निपक्व विशेषण ही है, विशेष्य नहीं। यह तथ्य उत्तरवर्ती गाथा ८२८ से स्पष्ट हो जाता है जहां मुनि के लिये बीजरहित, गूदा निकला हुआ, अग्निपक्व या प्रासुक आहार कल्पनीय बताया गया है। ये सब अचित्तीकरण के रूप ही हैं। यहां तो कंद-मूल विशेष का कोई उल्लेख ही नहीं है। यदि वे अग्निपक्व के रूप में भी निषिद्ध होते तो इस गाथा में उनका उल्लेख अवश्य होता। भला जैनाचार्य निषेधवाक्य की उपेक्षा कैसे करते? **मूलाचार** के आचार्य के प्रणेता जिसने एक गाथा सकारात्मक तो लिखी। इसी ग्रंथ की गाथा ४८४ में भी बीज, फल और कंद-मूल को स्वल्प-मल कहा है। इससे भी इनकी आंशिक अभक्ष्यता (अपक्व अवस्था में?) ही व्यक्त होती है। इस प्रकार जहां, सामान्य अनंतकाय शब्द आया है, वहां उन्हें अपक्व और अशस्त्र-परिणत के रूप में ही त्याज्य मानना चाहिये। श्री जिनेन्द्र वर्णी (**जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश** - ३, पृष्ठ २०४)[३७] और अन्य विद्वानों ने भी गाथा ८२७ के अनग्निपक्व शब्द का विशेषण के रूप में ही अर्थ किया है। फलतः **मूलाचार** की गाथा ८२७-२८ को कंद-मूलों की भक्ष्यता के संबंध में प्रामाणिक मानना और उसके अर्थ को सही रूप में लेना चाहिये। गणिनी ज्ञानमती माताजी ने **मूलाचार** की हिन्दी टीका में पहले यही अर्थ लगाया था, पर अब गाथा २१३-१७ का उदाहरण देकर अपने अर्थ को परिवर्धित किया है। इन गाथाओं में प्रत्येक और संमूर्छिन वनस्पतियों के उदाहरण हैं। इन्हें 'हरितकाय' कहते हुए उनके परिहार की सूचना दी है। उपरोक्त चर्चा के आधार पर उनका भी परिवर्धित मत पुनर्विचारणीय है।[३८]

मूलाचार को दिगम्बर जैनों का **आचारांग** कहा जाता है। उसमें श्वेतांबर आगामों के अनेक मत पाये जाते हैं। गाथा ८२७-२८ भी **दशवैकालिक**, गाथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५.१.७०. एवं **आचारांग** २.१.३२५ के साथ स्वर मिलती है। यह आचार मुनियों या शिक्षाव्रत पालकों के लिये है। ये कंदमूलों को अपक्व रूप में अग्राह्य मानते हैं, अग्निपक्व, निर्जीव या शस्त्र-परिणत के रूप में नहीं। यह अर्थ आचार्य महाप्रज्ञ, वसुनंदि आचार्य और मुनि मधुकर ने भी लगाया है। इस अर्थ को भूल कहना सही नहीं लगता। इन शास्त्रों के मन्तव्यों को सारणी-२ में दिया गया है। **मूलाचार**, ४७३ में भी 'अपरिणदं णेबगेहज्जो' का कथन है। **भगवतीआराधना** १२०६ में अन्दारित फल, मूल, पत्र, अंकुर एवं कंद के त्याग की ही चर्चा है।

इस युग में भी पं० देवकीनंदन जी ने **सागारधर्मामृत** के श्लोक ७.७-८ में 'हरित' का अर्थ हरी वनस्पति या अप्रासुक बीजादि किया है। यह श्लोक भी यही कहता है कि हरितांकुर-बीज अप्रासुक अवस्था में न खाये। क्षुल्लक ज्ञानभूषण जी ने अपने **सचित्त विवेचन** नामक पुस्तक में अनेक विद्वानों (पं० बुलरकी दास आदि) के मन्तव्य दिये हैं। **लाटीसंहिता** तो यहां तक कहती है कि पांचवी प्रतिमाधारी स्वयं भी सचित्त को अचित्त कर सकता है। इतना अवश्य है कि उन्होंने कालपक्वन या अन्य विधियों की अपेक्षा अग्निपक्वन को अचित्तता का आधार माना है। आचार्य चंदना जी भी सचित्ताहार-जन्य हिंसा को तुलनात्मकतः क्षुद्र ही मानती हैं। इन विवरणों का सार सारणी २ में दिया गया है। **भगवतीआराधना** २१६-१७ में तो सल्लेखनागत साधु को 'पत्र-शाक' के त्याग की बात कही है। इसका अर्थ अनुसंधेय है।

वस्तुतः सचित्ताहार से संबंधित मध्ययुगीन विचारधारा के समान अन्य मान्यताओं के कारण ही नई पीढ़ी से धर्म उपेक्षित होने लगी है। उनकी आस्था को बलवती बनाने के लिये हमें वर्तमान में उपलब्ध वैज्ञानिक जानकारी का उपयोग कर स्वास्थ्य एवं धर्मसंरक्षण को प्रोत्साहित करना चाहिये। उपरोक्त चर्चा के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि -

१. सचित्त/आम शब्द प्रत्येक और साधारण-दोनों कोटि के वनस्पतियों के लिये प्रयुक्त होता है।

२. हमारे सामान्य आहार में प्रत्येक वनस्पति की तुलना में साधारण वनस्पति का अंश अल्प होता है, अतः उसे बहुघाती हिंसा का स्रोत नहीं माना जाना चाहिये।

३. भोगोपभोग परिमाण व्रत में कुछ ही सचित्त वस्तुओं का परिमित काल के लिये त्याग किया जाता है। उन्हें अचित्त कर खाया जा सकता है।

४. सचित्त त्याग प्रतिमा के स्तर पर सभी प्रकार की सचित्त वस्तुओं का आजन्म त्याग किया जाता है। हां, उन्हें स्वयं या अन्य के द्वारा अचित्तीकृत कर आहार के घटक के रूप में काम में लिया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. शिक्षाव्रती एवं सचित्त त्याग प्रतिमाधारी के विपर्यास में, सामान्य जन या पाक्षिक श्रावक पर उपरोक्त आहार नियम प्रयुक्त नहीं करने चाहिये क्योंकि उनका जीवन क्रम इनसे विपरीत दिशा में गतिशील होता है अत: वे सचित्त और अचित्त-दोनों कोटि के प्रत्येक और साधारण वनस्पतियों को अपने आहार में ले सकते हैं। तथापि, धर्ममुखी होने के लिये उन्हें अपने व्यवसायों, संज्ञानों तथा आहार में जहां तक समझ में आये, हिंसा के अल्पीकरण का प्रयत्न करना चाहिये। सामान्य जन के लिये यही कर्म है, यही धर्म है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में हमें अपने प्राचीन या मध्ययुगीन आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों की सार्वकालिकता के लिये पणा सम्मिक्खए धम्मं की **उत्तराध्ययन** की उक्ति के अनुरूप समीक्षण करते रहना चाहिये जिससे हमारा जीवन प्रशस्ततर बन सके और वैज्ञानिक बुद्धिवाद के माध्यम से हम अपने विश्वास एवं भक्तिवाद को प्रबलतर बना सकें।

सन्दर्भ पाठ

१. **आचारांग**-२/१/३२५: से भिक्खूवा भिक्खुणी वा गाहावती जाव पविट्ठे समाणे से ज्जाओ पुण ओसहीओ जाणेज्जा कसिणाओ, सासियाओ, अविदलकडाओ, अतिरिच्छच्छिण्णाओ, अव्वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कंताभज्जितं पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

२. **प्रज्ञापना**-१ : (अ) पत्तेयसरीर-बादर-वणप्फइकाइया दुवालसविहा पण्णत्ता। तं जहा: रुक्खा ३२,३३; गुच्छा ५२; गुम्मा २४; लता १०; बल्ली ४६; पव्वग २२; तण २२; वलय १७; हरित ३०; ओसहि २६; जलरुह २८; कुहण ११

(ब) से किं साहारणसरीर-बादर-वणप्फइकाइया?

साहारण-सरीर-बादर-वणप्फइकाइया अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा : (५३नाम)

३. **मूलाचार**-१, २१७ : होदि वणप्फदि वल्ली रुक्खतणादी तहेव एइंदी।
ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।।

४. **मूलाचार**-१ : तिलतंडुलउसिणोदयं चणोदयं तुसोदयं अविद्धत्थं।
अण्णं व्रहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिेज्जो।।४६३.

५. **मूलाचार**-२ : फलकंदमूलवीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पड़िच्छंति ते धीरा।।८२७.
जं हवदि अणिव्वीयं, णिवट्टियं, फासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खुं मुणी पडिच्छंति।।८२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सचित्तविरत

६. **रत्नकरण्डश्रावकाचार** : मूलफलशाकशाखाकरीरकंदप्रसून वीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥५/२०

७. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** : सच्चितं पत्त फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं ।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्त विरदो हवे सो दु॥

८. **वसुनंदीश्रावकाचार** : जं वज्जिज्जइ हरियं-तुय-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं॥२९५.

९. **सागारधर्मामृत** : हरिताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्।
जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः॥१६/८.

१०. **लाटी संहिता** : भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत्॥७/१७

भोगोपभोगपरिमाण व्रत

११. **रत्नकरंडश्रावकाचार** : अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि श्रृंगवेराणि।
नवनीतनिबंकुसुमं, कैतकमित्येवमवहेयम्॥३/३९.

१२. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** : जाणित्ता संपत्ती भोयण तंबोल-वत्थमादीणं।
जं परिमाणं कीरदि, भोउवभोयं वयं तस्स॥३५०.

१३. **सागारधर्मामृत** : नालीसूरणकालिंदद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्।
आजन्म तद्भुजां हि अल्पं फलं घातश्च भूयसाम्॥

प्रत्येक वनस्पति

१४. **षट्खंडागम-धवला** १.१.४१ :
बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयंते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत्?
प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्विति ब्रूमः। के ते?
स्नुग-आर्द्रक-मूलकादयः।

१५. **षट्खंडागम-धवला** ३.१.२.८७ :
के ते? (बादरणिगोदपदिट्ठिदा)
मूलयुद्धु-भल्लक-सूरण-गलोइ-लोगेसर-पभादओ।
सुत्ते बादर-वणप्फदि पत्तेय सरीराणमेव गहणं कदं, ण तब्भेदाणं?
ण, बादर-वणप्फादिकाइयपत्तेयसरीरेषु चेव तेसिं अंतब्भावादो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारणी - १ : विभिन्न ग्रंथों में वनस्पतियों की कोटि और उदाहरण

क्रमांक	वनस्पति वाचक शब्द	भाव पाहुड़ (१०१)	कोटि	मूलाचार २१३*	मूलाचार २१४*	धवल पं० २७३
१.	कंद*	सूरण, प्याज, लहसुन, अदरक, हल्दी आदि	अनंतकाय	कदली, पिंडालु	सूरण, पद्मकंद	-
२.	मूल (बीज)*	मूली, गाजर, अदि	अनंतकाय	हल्दी, अदरक आदि	हल्दी, अदरक	-
३.	बीज/बीज-बीज*	गेहूं आदि धान्य	प्रत्येक/सचित्त	गेहूं आदि धान्य	-	-
४.	पुष्प	विभिन्न फूल	प्रत्येक/अनंतकाय	-	पुष्प	-
५.	पत्र	पान आदि का पत्ता	प्रत्येक/अनंतकाय	-	पत्र	-
६.	यत्किमपि	विशिष्ट ककड़ी आदि	प्रत्येक	नारियल, सुपाड़ी	-	-
७.	अग्रबीज*^	-	प्रत्येक/अनंतकाय	कोरंटक/मल्लिकादि	मल्लिकादि	-
८.	पर्वबीज*^	-	प्रत्येक/अनंतकाय	गन्ना, बेंत आदि	गन्न, बेंत आदि	-
९.	स्कंध*	-	प्रत्येक/अनंतकाय	सल्लकी, पालिभद्रादि	पालिभद्रादि	-
१०.	-	-	अनंतकाय	स्नुही, गिलोय आदि	मल्लिका-करंजकादि	-
११.	छाल/गुच्छ/गुल्म	-	प्रत्येक	-	सुपाड़ी आदि	-
१२.	फल	-	प्रत्येक	-	फल	आर्द्रक मूलक, स्नुगादि
१३.	वल्ली^	-	प्रत्येक/अनंतकाय^	-	लतादि	-
१४.	तृण^	-	प्रत्येक/अनंतकाय^	-	विभिन्न तृण	-
१५.	वृक्ष^	-	प्रत्येक/अनंतकाय^	-	वृक्ष (२१७)	-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारणी - २ : विभिन्न शास्त्रों में भोगोपभोग परिमाणव्रती एवं सचित्तत्याग प्रतिमाधारी के आहार में सचित्त वनस्पति

क्रमांक	ग्रन्थ नाम	समय	भोगोपभोग परिमाण	सचित्त त्याग
१.	रत्नकरंड श्रावकाचार	२-३री सदी	आर्द्र मूलक, अदरक, मक्खन, नीम और केतकी के फूल (८५)	कच्चे (सचित्त) मूल, फल, शाक, शाखा, कोंपल, कंद, प्रसून, बीज का त्याग (१४१)
२.	चारित्तपाहुड़	२-३री सदी	भोजन का परिमाण २४/७४	सचित्त कंदादि का अभक्षण
३.	भावपाहुड़	२-३री सदी	-	कंद, मूल, बीज,पुष्प, पत्रादि, किंचि से संसार भ्रमण
४.	मूलाचार - १	२-३री सदी	-	वल्ली, वृक्ष, तृण आदि वनस्पतियों का परिहार करना चाहिये। (साधु के लिये, २१७)
५.	मूलाचार - २	२-३री सदी	-	अनिर्वीज, मध्यसार-रहित, प्रासुक आहार कल्पनीय है। (८२८) सचित्त, आम या अनग्निपक्व, कंद, मूल, बीज, पुष्प, पत्रादि किंचि भक्षण का त्याग (८२७)
६.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१०वीं सदी	तांबूलादि (स्वाद्य) का परिमाण, भोजन का परिमाण (३५०)	सचित्त पत्ते, फल, छाल, मूल, किसलय एवं बीज के भक्षण का त्याग (३७९)
७.	वसुनंदिश्रावकाचार	१०वीं सदी	-	हरित या आर्द्र, छाल, पत्र, प्रवाल, कंद, मूल और अप्रासुक जल का त्याग
८.	सागारधर्मामृत	१३वीं सदी	त्रसघात, बहुघात, प्रमाद,अनिष्ट, अनुपसेव्य, कंद, कलींदा, द्रोणपुष्प आदि का सीमित काल/आजन्म त्याग	अप्रासुक हरित अंकुर, बीज, कच्चा जल, हरित वनस्पति का त्याग (७.८)
९.	चारित्रप्राभृत टीका	१६वीं सदी	कंद, शाक, पुष्प व अनेक वनस्पतियां, फलों आदि का त्याग (विशेषतः) (२३)	सचित्त का अभक्षण
१०.	सचित्त विवेचन	२०वीं सदी	सचित्त और अचित्त - दोनों भक्ष्य	सचित्त को अचित्त करने पर भक्ष्य है।

सन्दर्भ :

१. क्षुल्लक ज्ञानभूषण; **सचित्त विवेचन**, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, जयपुर १९९४.

२. आशाधर; **सागारधर्मामृत** (टीका पं० देवकीनंदन शास्त्री), पृष्ठ २३६-३७, १७६-७७.

३. **आचारांग**-२, सूत्र ३७५, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर १९८०, पृष्ठ ८२.

४. आचार्य वीरसेन; अ. **धवला**-१, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर १९७३, पृष्ठ २७३.

ब. **धावला**-३, एल०एस०जैन ट्रस्ट, अमरावती१९४१, पृष्ठ ३४८, २३२.

५. आर्य श्याम; **प्रज्ञापना**-१, व्यावर १९८२, पृष्ठ ४९-५३, ६७.

६. **शांतिसूरि**; **जीवविचारप्रकरण**, जैन सिद्धांत सोसायटी, अहमदाबाद १९५०, पृष्ठ ५३, ५६.

७. अशोक बेन्द्रे एवं अशोक कुमार; **वनस्पति विज्ञान**, मेरठ १९९९, पृष्ठ ५०७.

८. देखिये, संदर्भ ५, पृष्ठ ६७.

९. आचार्य, वट्टेकर; **मूलाचार**-१, भारतीय ज्ञानपीठ, १९८४, पेज ३६९.

१०. नाथूलाल शास्त्री; व्यक्तिगत पत्राचार

११. सुधर्मा स्वामी; **स्थानांग**, लाडनूं १९७६, पृष्ठ ८५०.

१२. आर०एल० पाइक एवं पिरटिल ब्राउन; **न्यूट्रीशन**, दिल्ली १९७०, पृष्ठ २-४.

१३. **संपर्क** २०००, ऋषभ विद्वत् महासंघ, इन्दौर.

१४. एन०एल० जैन; **पश्चिम में सनमति का समुचित समाहार**, जैन प्रचारक, दिल्ली नवंबर १९९९.

१५. कुमार स्वामी, **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**; अगास १९७८, पृष्ठ ७१.

१६. आचार्य कुंदकुंद; **अष्टपाहुड**, महावीर जी १९६७, पृष्ठ ७१.

१७. **भगवती**-३, व्यावर १९९४, पृष्ठ ११६.

१८. देखिये संदर्भ-५, पृष्ठ ५४.

१९. अशोक जैन; व्यक्तिगत पत्राचार.

२०. पी०सी० जैन; **तीर्थंकर वाणी**, जून १९९६, पृष्ठ १०.

२१. के०वी० मरडिया; **साइन्टिफिक फाउंडेशन ऑफ जैनिज्म**, दिल्ली १९९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. प्रियव्रत शर्मा; **द्रव्यगुण विज्ञान**, वाराणसी १९९६ (संबंधित पृष्ठ)
२३. देखिये संदर्भ-१६, पृष्ठ ११२.
२४. अमितगति; **पुरुषार्थसिद्धिउपाय**, सोनगढ़ १९७८, पृष्ठ ६८-६९.
२५. स्वामी समंतभद्र; **रत्नकरंडश्रावकाचार**, टीकमगढ़ १९८५, पृष्ठ ८५/१४१.
२६. समंतभद्र; **वासुपूज्य स्तवन**, ५८, **प्रतिष्ठारत्नाकर** में उद्धृत, पृष्ठ ६४.
२७. एन०एल० जैन, **साइंटिफिक कंटेंट्स इन प्राकृत कैनन्स**, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९९६, पृष्ठ २८९-९०.
२८. वही, **हिंसा-अहिंसा विवेक** (प्रकाशनाधीन)
२९. आचार्य चन्दना; **जैन स्पिरिट**, अक्टूबर १९९९, पृष्ठ १८.
३०. राजकुमार जैन; **पं० जमोला शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ**, जैन केन्द्र, रीवा १९८९, पृष्ठ २९३.
३१. गणेश ललवानी; **तीर्थंकर**, इंदौर, जनवरी १९८६, पृष्ठ ३२.
३२. नेमिचन्द शास्त्री; **महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, दि०जैन विद्वत् परिषद, सागर १९७४, पृष्ठ २९६.
३३. देखिये, संदर्भ- २७, पेज VII-IX
३४. मुनि रत्नचंद्र, **अर्धमागधीकोश**-४, पृष्ठ ५७९.
३५. व्ही०एस० आप्टे; **संस्कृतअंग्रेजीशब्दकोश**, पृष्ठ ८३.
३६. नाथूलाल शास्त्री; व्यक्तिगत पत्राचार.
३७. क्षु० जिनेन्द्र वर्णी; **जैनेन्द्र सिद्धांत कोश- ३**, भारतीय ज्ञानपीठ १९७५, पृष्ठ २०४.
३८. गणिनी ज्ञानमती माताजी; व्यक्तिगत पत्राचार.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य शङ्कर की बौद्ध दृष्टि

अनामिका सिंह*

आचार्य शङ्कर जिस वैदिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं बौद्ध विचारधारा उससे भिन्न है। तथापि दोनों विचारधाराएँ एक ही देश की संस्कृति से जन्मीं हैं।[१] इसलिए उनमें वैषम्य के साथ साम्य होना भी अवश्यंभावी है। इन दोनों विचारधाराओं को दर्शन के क्षेत्र में अपने-अपने वर्चस्व को स्थापित करने के लिए परस्पर संवाद में संलग्न होना अपरिहार्य हो गया था। इस आवश्यकता में **ब्रह्मसूत्र**[२] ने अग्रणी भूमिका निभाई। इस ऐतिहासिक ग्रन्थ ने वैदिक साहित्य में विकीर्ण ब्रह्म-विषयक विचारों को सूत्र शैली में एकत्र व व्यवस्थित कर प्रस्तुत किया तथा साथ ही वेदान्त के दृष्टिकोण से वैदिक, अवैदिक अन्य दर्शनों[३] के साथ बौद्ध दर्शन के प्रति भी समालोचना की प्रवृत्ति दिखलाई। **ब्रह्मसूत्र** के पश्चात् संवाद की इस परम्परा का सीमित[४] निर्वहन गौड़पाद[५] ने किया। समन्वयात्मक वेदान्तीय अद्वैतवाद के प्रणेता आचार्य शङ्कर ने, **शारीरक भाष्य** में जहाँ एक ओर अपने सिद्धान्त का सयुक्तिक प्रतिपादन किया वहीं दूसरी ओर सूत्रों के माध्यम से (२/२/१८-३२) बौद्ध दर्शन के प्रति भी अपनी अभिनव दृष्टि का परिचय दिया। प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य **ब्रह्मसूत्र** के इन्हीं १५ सूत्रों पर लिखे गए **शारीरक भाष्य** के माध्यम से बौद्ध दर्शन के प्रति आचार्य शङ्कर की दृष्टि का विवेचन करना है।

शारीरक भाष्य में उल्लिखित बौद्ध दर्शन के प्रधान बिन्दु बुद्ध, सम्प्रदाय, पारिभाषिक शब्द, अवधारणाएँ, युक्तियाँ आदि हैं। अतः इन्हीं के माध्यम से प्रस्तुत विषय पर आगे विचार किया जाएगा।

बुद्ध -

आचार्य शङ्कर के पूर्ववर्ती वेदान्ताचार्यों में ब्रह्मसूत्रकार ने बुद्ध के प्रति मौन धारण किया और गौड़पाद ने बुद्ध का स्पष्ट नामोल्लेख करते हुए[६] उनके प्रति आस्था के संकेत दिए[७] जिसे वेदान्त के प्रसङ्ग में ऐतिहासिक घटना माना जा सकता है। आचार्य शङ्कर ने, बुद्ध का उल्लेख बौद्ध दर्शन के उपदेष्टा के रूप में किया है।[८] इसके अन्तर्गत बुद्ध के व्यक्तित्त्व में कई अन्य विशेषण भी जोड़े गए हैं यथा - बुद्ध को असम्बद्ध

* *शोध छात्रा, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रलाप करने वाला, लोक-कल्याण के विपरीत बौद्ध दर्शन के नाम से तीन परस्पर विरुद्ध मतों का प्रतिपादन कर समाज में भ्रान्ति व विद्वेष फैलाने वाला, देशना-विशेष के माध्यम से मोक्षमार्ग से पथभ्रष्ट करने वाला आदि। वस्तुतः शङ्कर के शब्दों में, बुद्ध व उनकी यह विचारधारा (बौद्ध दर्शन) न केवल अनादरणीय है अपितु उपेक्षणीय भी है।[९] यहाँ दार्शनिक स्तर पर वे बौद्ध दर्शन की समस्त विसङ्गतियों और व्यावहारिक कमियों के लिए सीधे बुद्ध को उत्तरदायी मानते हैं जबकि ऐतिहासिक स्तर पर बुद्ध के उपदेशों की सरलता और बौद्ध दर्शन की क्लिष्टता में पर्याप्त दूरी है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि बुद्ध के प्रति आचार्य शङ्कर की दृष्टि संक्षिप्त व मार्मिक टिप्पणियों के माध्यम से तीखे व गहरे आक्षेप करने की रही है। आक्षेप क्रम में, आचार्य शङ्कर ने न केवल कठोरतम शब्दों का उपयोग किया है बल्कि आक्रोश से परिपूर्ण उनकी शैली दार्शनिक की अपेक्षा पूर्वाग्रह से युक्त एक सामाजिक व धार्मिक व्यक्ति की हो गई है। इस कथन का प्रमाण यह भी है कि उन्होंने बौद्ध दर्शन के प्रसङ्ग में ही नहीं अपितु जैन दर्शन के खण्डन **(शारीरक भाष्य** - २/२/३३ व ३६) के प्रसङ्ग में भी दो बार सुगत-मत का स्मरण किया है।[१०]

सम्प्रदाय -

वेदान्त के इतिहास में शङ्कर पहले ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने बौद्ध दर्शन को पूर्ववर्ती आचार्यों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया है। वे बौद्ध दर्शन के प्रधान सम्प्रदायों (सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद व शून्यवाद) का स्पष्ट नाम लेते हुए उनकी समालोचना करते हैं।[११] आचार्य की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के इन सम्प्रदायों की अनेकता और विविधता के दो प्रधान कारण हैं - (१) प्रतिपत्ति का भेद (२) शिष्यों का भेद।[१२] प्रतिपत्ति व शिष्यों के भेद से यद्यपि ये सम्प्रदाय परस्पर सङ्गति नहीं रखते तथापि इनमें एक समानता है। आचार्य शङ्कर की दृष्टि में ये सभी - "सर्ववैनाशिक"[१३] हैं।

पारिभाषिक शब्द -

बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के उपयोग की दृष्टि से भी **ब्रह्मसूत्र** और **माण्डूक्य-कारिका** की अपेक्षा **शारीरक भाष्य** अधिक समृद्ध है। आचार्य शङ्कर ने प्रत्येक सम्प्रदाय का जो विवरण दिया है उसमें सम्प्रदाय के मत को पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करने का विशेष ध्यान रखा है।[१४] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पारिभाषिक शब्दों की अधिकता की दृष्टि से 'सर्वास्तिवाद' प्रधान है। भारतीय दर्शन के इतिहास में, बौद्ध दर्शन अपनी समृद्ध पारिभाषिक शब्दावली के लिए जो महत्त्व रखता है, शङ्कर उससे सुपरिचित थे और इसका प्रमाण उन्होंने भाष्य में अधिकाधिक पारिभाषिक शब्दों का उपयोग कर दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधारणाएँ -

आचार्य शङ्कर ने बौद्ध दर्शन के परमाणुवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद, क्षणभङ्गवाद, असंस्कृत धर्म, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, भोग व मोक्ष, विज्ञान, विज्ञेय, वासना, सहोपलम्भ नियम, आलयविज्ञान, शून्य आदि प्रमुख अवधारणाओं को समीक्षार्थ लिया है। क्षणभङ्गवाद, बौद्ध दर्शन की ऐसी अवधारणा है जो (बौद्ध दर्शन के ही एक सम्प्रदाय शून्यवाद सहित) अन्य सभी बौद्ध-विरोधी दार्शनिकों के आलोचना का केन्द्र रही है। बौद्ध दर्शन के दो प्रधान सम्प्रदायों (सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद) का समस्त दार्शनिक चिन्तन इसी अवधारणा पर केन्द्रित है। आचार्य शङ्कर ने भाष्य में 'सिकता-कूप' शब्द के माध्यम से क्षणभङ्गवाद की इस अवधारणा पर आक्षेप किया है।[१५] आचार्य की दृष्टि में यह सिद्धान्त इतना निरर्थक है कि इसके माध्यम से जीवन की समस्याओं (तत्त्वमीमांसीय, प्रमाणमीमांसीय और मोक्षमीमांसीय) के हल ढूँढने का प्रयत्न, बालू के कुँए में पानी ढूँढने जैसा ही है।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि में **ब्रह्मसूत्र** में साक्षात् शून्यवाद का खण्डन नहीं है इसलिए विज्ञानवाद के सन्दर्भ में प्रयुक्त एक सूत्र (२/२/३१) के माध्यम से उन्होंने शून्यवाद पर टिप्पणी की है। शून्यवाद पर शङ्कर की टिप्पणियाँ इतनी संक्षिप्त हैं कि इनके विषय में यह विवाद हो गया कि वस्तुत: इसे शून्यवाद का खण्डन माना भी जाए अथवा नहीं। इस विवाद को परे रखकर टिप्पणी के शब्दों पर यदि ध्यान केन्द्रित किया जाता है तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने शून्यवाद को प्रमाणातीत, अनिर्वचनीय और अव्यवहारिक बताया है तथा साथ ही इसे खण्डन के योग्य भी माना है।[१६]

युक्तियाँ, दर्शन की प्राण हैं। इनके माध्यम से न केवल दर्शन के सिद्धान्तों का परिचय ही प्राप्त होता है अपितु उन सिद्धान्तों के पीछे छिपी, दार्शनिक की दृष्टि भी उद्घाटित होती है। आचार्य शङ्कर की बौद्ध दर्शन के प्रति क्या दृष्टि है, इसका सबसे प्रबल प्रमाण वे युक्तियाँ हैं जो उन्होंने बौद्ध दर्शन के खण्डन में दी हैं।

शारीरक भाष्य में युक्तियों के दो वर्ग हैं - (१) पूर्वपक्ष की समर्थक युक्तियाँ (२) पूर्वपक्ष की खण्डनात्मक युक्तियाँ। सम्प्रदायानुसार सिद्धान्त के समर्थन में दी गई युक्तियाँ, बौद्ध साहित्य का अनुकरण करती हैं। इन युक्तियों के माध्यम से शङ्कर ने यथासंभव बौद्ध विचारधारा के प्रति न्याय किया है किन्तु जहाँ तक युक्तियों की मौलिकता का प्रश्न है, उसमें क्रम व व्यवस्था आचार्य की अपनी है। तथापि खण्डनात्मक युक्तियाँ बौद्ध सम्प्रदायों के प्रति आचार्य की दृष्टि और शैली की विविधता का प्रमाण हैं।

शङ्कर दर्शन में अनुभव एवं श्रुति के अनन्तर तर्क को तृतीय सोपान पर स्वीकार किया गया है। तर्क यहाँ स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में न मानकर श्रुतियों के अनुग्राहक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माने गए हैं (श्रुत्यनुकूलस्तर्क एव हि तर्कः)। तथापि बौद्ध आलोचना के प्रसंग में शङ्कर के तर्कों की यह विशेषता है कि वे यहाँ श्रुति के प्रति आग्रह नहीं दिखाते हैं। बौद्ध सम्प्रदाय की तत्त्वमीमांसा को युक्तियों के माध्यम से असङ्गत, अपूर्ण, परमार्थ व व्यवहार दोनों दृष्टियों से असफल और अतार्किक सिद्ध करने का यह प्रयत्न वस्तुतः शङ्कर द्वारा तर्क के प्रति बौद्धों की आस्था का सम्मान ही है।

ब्रह्मसूत्रकार द्वारा सर्वास्तिवाद के खण्डन में जो युक्ति दी गई उसमें उनके दो प्रधान निष्कर्ष थे - (१) क्षणभङ्गवाद मानने से लोकव्यवहार की सुसङ्गत व्याख्या नहीं हो सकती और (२) अचेतन पदार्थ जगत् की उत्पत्ति में समर्थ नहीं हैं। अतः स्थिर चेतन तत्त्व की सत्ता मानना आवश्यक है। आचार्य शङ्कर ने इन सूत्रों पर अपने भाष्य में सूत्रकार के उक्त आशय को ही विस्तारपूर्वक पुष्ट किया है।

सर्वास्तिवाद के विरुद्ध आचार्य शङ्कर द्वारा दी गई युक्तियों की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें क्षणभङ्गवाद की आलोचना, व्यवहार के स्तर पर मान्य अचेतन संसार की क्षणिकता को लेकर नहीं की गई है। अपितु आपत्ति का प्रधान बिन्दु सर्वास्तिवाद में मान्य चित्त का क्षणिक स्वरूप है जिसकी गणना वह दर्शन-सम्प्रदाय घटपटादि की तरह व्यवहार के स्तर पर करता है (**शारीरक भाष्य** २/२/१८, २६)।

इसी प्रकार आचार्य ने सर्वास्तिवाद में मान्य असंस्कृत धर्म (प्रतिसंख्यानिरोध व अप्रतिसंख्या निरोध) का स्वरूप पदार्थ-विनाश माना है और विनाश को कार्य मानकर उसके कारण की अपेक्षा की है। शङ्कर की यह आपत्ति क्षण भङ्गवाद के स्वरूप से हटकर कार्यकारणभाव के धरातल से की गई है जो बौद्ध दृष्टि से सङ्गति नहीं रखती है (**वही,** २/२/२२)।

आचार्य शङ्कर ने विज्ञानवाद के खण्डन में जिन युक्तियों का प्रयोग किया है, उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (१) बाह्यार्थवाद के पक्ष से युक्तियाँ (२) शङ्कर के पक्ष से युक्तियाँ।

विज्ञानवाद के विरुद्ध, बाह्यार्थवाद के पक्ष से कुल चार युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इनमें से दो युक्तियों का लक्ष्य व्यवहार में विज्ञेय की सत्ता, आवश्यकता व उपयोगिता को सिद्ध करना है (**शारीरक भाष्य** २/२/२८)। तृतीय युक्ति क्षणभङ्गवाद से सहोपलम्भ-नियम की असंगति को बताती है (वही)। चतुर्थ में, आचार्य ने विज्ञानवाद में बाह्यार्थ के लिए प्रस्तावित स्वप्न के दृष्टान्त पर आपत्ति की है (**वही,** २/२/२९)।

उपर्युक्त युक्तियों के अलावा अन्य युक्तियाँ शङ्कर ने अपने दर्शन के पक्ष से भी प्रस्तुत की हैं (**वही,** २/२/३१)। इनका प्रधान लक्ष्य बाह्यार्थ का खण्डन करना न होकर, विज्ञानवाद में प्रस्तावित विज्ञान के स्वरूप अथवा विज्ञान के आधार पर व्यवहार के वैचित्र्य की व्याख्या पर आपत्ति करना है। वासना व विज्ञान का सम्बन्ध,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासना के लिए नित्य आश्रय की अपेक्षा अथवा आश्रय विज्ञान के स्वरूप पर आपत्ति आदि युक्तियाँ वस्तुतः उक्त प्रधान युक्ति की ही पूरक हैं।

निष्कर्ष -

१. वेदान्त और बौद्ध विचारधाराओं में वेदान्त पक्ष से **ब्रह्मसूत्र** ने सर्वप्रथम सयुक्तिक और खण्डनात्मक संवाद को प्रारम्भ किया।

२. वेदान्त और बौद्ध तत्त्वचिन्तन को अद्वैत के धरातल पर लाने का सर्वप्रथम प्रयास गौड़पाद ने किया।

३. दो प्रसिद्ध अवैदिक दर्शनों (जैन और बौद्धों) की **ब्रह्मसूत्र** के माध्यम से समीक्षा करते हुए शङ्कर ने बौद्ध दर्शन को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया है।

४. शङ्कर की बौद्ध दृष्टि के आधार सयुक्तिक पूर्वपक्ष, सयुक्तिक खण्डन, पारिभाषिक शब्दों के पर्याप्त उपयोग, बुद्ध के प्रति विचार आदि रहे हैं जो ब्रह्मसूत्रकार और गौड़पाद की अपेक्षा इस दृष्टि को व्यापक बनाते हैं।

५. बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा की समीक्षा के प्रसंग में बुद्ध के प्रति शङ्कर की दृष्टि न्यायसंगत नहीं है। इस विवरण से उनका आक्रोश और पूर्वाग्रह (धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक) स्पष्ट दिखाई देता है।

एक ओर बौद्ध तत्त्वमीमांसा की विसंगतियों के लिए बुद्ध को उत्तरदायी बनाना तथा दूसरी ओर अधिकारी-भेद का समाधान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध की महत्ता के विषय में शङ्कर स्वयं में स्पष्ट नहीं हैं।

६. बौद्ध सम्प्रदायों की आंतरिक मतभिन्नता के प्रति शङ्कर की दोष-दृष्टि इसलिए उचित प्रतीत नहीं होती है कि यह प्रक्रिया वेदान्त सहित सभी दर्शन-सम्प्रदायों में विद्यमान रही है और दार्शनिक चिन्तन के विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है।

७. समीक्षा के लिए बौद्ध अवधारणाओं के चयन में दार्शनिक शङ्कर की दृष्टि मार्मिक व लक्ष्यभेदी रही है जो बौद्ध दर्शन में उनके गूढ़ ज्ञान को स्पष्ट करती है।

८. नित्यतावाद के सर्वथा विरोधी सिद्धान्त क्षणभङ्गवाद के खण्डन के प्रसंग में दी गई उनकी युक्तियों में अभिनव दृष्टि का अभाव प्रतीत होता है क्योंकि शङ्कर से पूर्व शून्यवाद सहित अन्य वैदिक सम्प्रदायों में भी इनसे न्यूनाधिक्य साम्य वाली युक्तियाँ मिलती हैं।

९. बौद्ध दर्शन के प्रति शङ्कर की दृष्टि बाह्य रूप से बौद्ध विरोधी होते हुए भी प्रभाव और सामंजस्य के कतिपय गंभीर तत्त्व अपनी पृष्ठभूमि में समाहित किये हुये हैं जिसके कारण उन पर 'प्रच्छन्न-बौद्ध' जैसा आरोप लगा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ :

१. द्रष्टव्य - (i) चन्द्रधर शर्मा, **बौद्ध और वेदान्त**।
(ii) राधाकृष्णन्, **भारतीय दर्शन**।
(iii) राममूर्ति पाठक, **भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा**।

२. **ब्रह्मसूत्र** में कुल मिलाकर ५५५ सूत्र हैं। विषय की दृष्टि से यह सूत्र-ग्रन्थ चार अध्यायों और सोलह पादों में विभक्त है। विषयानुसार इनके पृथक्-पृथक् नाम दिए गए हैं। अध्यायों और पादों का पुन: विभाजन अधिकरणों में किया गया है। **ब्रह्मसूत्र** पर अनेक भाष्य भी लिखे गए हैं तथा इन भाष्यों की अधिकतम संख्या २२ निर्धारित की गई है। **ब्रह्मसूत्र** पर रचित पाँच प्रधान भाष्यों के आधार पर वेदान्त के पाँच प्रधान सम्प्रदायों की स्थापना हुई है।

३. जैन, बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत और पाञ्चरात्र।

४. गौड़पाद-प्रणीत **माण्डूक्यकारिका** में बौद्ध दर्शन सहित सांख्य आदि सम्प्रदायों एवं उनके सिद्धान्तों का उल्लेख है किन्तु दर्शन के पूर्वोत्तर पक्षों व युक्तियों, सुव्यवस्थित शैली आदि का लगभग अभाव है।

५. वेदान्तीय अद्वैतवाद के प्रणेता आचार्य गौड़पाद को शुकदेव का शिष्य अथवा शङ्कराचार्य के प्रगुरु होने का सम्मान प्राप्त है। इनके काल की पूर्व सीमा द्वितीय शती से पूर्व व अपर सीमा आठवीं शती निर्धारित है। इन्होंने जीवन में **उत्तरगीताभाष्य, सांख्यकारिका-टीका** आदि कई ग्रन्थों की रचना की है। किन्तु गौड़पाद को अद्वैत वेदान्त के निकट लाने का श्रेय उनकी प्रधान कृति **माण्डूक्यकारिका** को जाता है, जो **माण्डूक्यउपनिषद्** पर आधारित है। आगम, वैतथ्य, अद्वैत व अलातशान्ति नामक चार प्रकरणों में विभक्त इस ग्रन्थ में क्रमश: २९, ३८, ४८ और १०० कारिकाएँ हैं। अलातशान्ति नामक इसका चतुर्थ प्रकरण बौद्ध दर्शन की समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

६. क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तापिन:।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम्।। **माण्डूक्यकारिका** ४/९९.

७. ज्ञानेजाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्।। वही, ४/१
कुछ विद्वान् इस संदर्भ को बुद्ध से सम्बद्ध नहीं मानते हैं।

८. अपि च बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन.....।
ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, २/२/३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. (i) सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः, वही।
(ii) सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम्; वही, २/२/३६।

१०. इस आलोचना का अर्थ यह नहीं है कि शङ्कर के हृदय में बुद्ध के प्रति कोई आदर-भाव नहीं था। अन्यत्र उन्होंने बुद्ध-वन्दना के माध्यम से उनके प्रति आस्था के प्रमाण भी दिए हैं -

भाति यस्य तु जगत् दृढ़बुद्धेः सर्वमत्यनिशमात्मथैव,
स द्विजोऽसु भवतु श्वपचो वा वन्दनीय इति में दृढ़निष्ठा।
या चित्तिः स्फुरति विष्णुमुखे सा पुत्तिकावधिषु सैव सदाऽहम्,
नैव दृश्यमिति यस्य मनीम्प्रा पुल्कसो भवतु वा स गुरुर्मे।।

११. तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति-केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचद्विज्ञानास्ति-
-त्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति। **ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य**, २/२/१८।

१२. स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा, वही।

१३. अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः। वही, २/२/३२।

१४. समुदाय, बाह्यार्थवाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञान, वासना, आलयविज्ञान इत्यादि।

१५. (i) ....क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नापत्रपेत। **ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य**, २/२/२५।
(ii) किं बहुना? सर्वप्रकारेण यथा यथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते, तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव। वही, २/२/३२।

१६. शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते। **शारीरक भाष्य**, २/२/३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में अध्यात्मवाद की चुनौतियाँ एवं जैन-दृष्टि से उनका समाधान

श्याम किशोर सिंह*

वर्तमान में अधिकांश लोग विज्ञान के बाहरी चमक-दमक से आकृष्ट हो रहे हैं, फलत: उनका दृष्टिकोण संकीर्ण एवं संकुचित होता जा रहा है। वे भौतिकवादी, यंत्रवादी और सुखवादी विचारधाराओं से अधिक प्रभावित और प्रेरित होते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे भूल जाते हैं कि विज्ञान की भी सीमाएँ हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि मनुष्य केवल शरीर और मन की इकाई नहीं है, बल्कि उसका आध्यात्मिक आयाम भी है। आध्यात्मिक जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण इतना संकीर्ण हो गया है कि वह सेवा, त्याग, दया, परोपकार आदि उच्चतम मूल्यों की उपेक्षा कर रहा है फलत: भोगवादी संस्कृति उस पर हावी होती जा रही है। आज हम विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों की बातें करते हैं - वातावरण का प्रदूषण भी चिन्ता का विषय है, लेकिन सबसे गंभीर समस्या वैचारिक और सांस्कृतिक प्रदूषण की है। यही कारण है कि हम अपने देश की प्राचीन संस्कृति को भूलते और पश्चिम की भोगवादी आचार-विचार धारा का अंध अनुकरण करते जा रहे हैं। इसलिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तरह-तरह की विषमताएँ और विसंगतियाँ उभरती हुई दिखाई पड़ती हैं।

आज का युवा वर्ग भी अपनी प्राचीन परम्परा से दूर होता जा रहा है। उसे भी विज्ञान की उपलब्धियाँ आकृष्ट करती हैं। वह भी उद्देश्यहीनता और भोगवादी संस्कृति का शिकार होता हुआ दीख पड़ता है। वह सुखवादी दृष्टिकोण को अधिक प्रिय और लाभदायक समझने लगा है। फलत: उसका आचार-विचार भी उसी के अनुरूप हो गया है। नैतिकता और आध्यात्मिकता के प्रति उभरती संकीर्ण वैचारिक दृष्टियाँ मानव जीवन में व्याप्त विसंगतियों का एक कारण है जो निर्विवादत: हमारी आध्यात्मिक विपन्नता की सूचक है।

दुर्भाग्य की बात है कि लोग अध्यात्मवाद तथा नैतिक आदर्शवाद के सही अर्थ तक नहीं पहुँच पाते हैं और इसे रूढ़िवाद, अन्धविश्वास, पाखण्ड आदि के अर्थ में देखते हैं। अध्यात्मवाद वस्तुत: जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखता है तथा मनुष्य

* *ग्राम - जागोडीह ३, पो०- पौड़ा, जि०- वैशाली - ८४४ ११७*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के शारीरिक और मानसिक पक्ष के साथ-साथ उसके आध्यात्मिक पक्ष को भी समझता है। आधुनिक समकालीन विचारक राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, रविन्द्र नाथ टैगोर, पं० जवाहर लाल नेहरू, राधाकृष्णन इत्यादि भी स्वीकारते हैं कि मानव समाज का नैतिक उत्थान तभी हो सकता है जबकि उसके विचार और कर्म में तालमेल हो परन्तु आज के भौतिकवादी एवं पाश्चात्य सभ्यता के वाहक, मानव समाज को अध्यात्म के मार्ग पर चलने में अवरोध पैदा कर रहे हैं, जो समाज एवं देश के लिए घातक है। नेमिचन्द्र शास्त्री कहते हैं - "आचरण तो व्यक्ति की श्रेष्ठता एवं निष्कृष्टता का मापक यंत्र है। इसी के द्वारा जीवन की उच्चता और उसके उच्चतम रहन-सहन के साधन अभिव्यक्त होते हैं। आचरण का पतन जीवन का पतन है और आचरण की उच्चता जीवन की उच्चता है।"[१] आज मूल्यों का भूमण्डलीकरण हो रहा है, जिससे विभिन्न संस्कृतियों के लक्षण विलुप्त होते जा रहे हैं। आज संस्कृति आध्यात्मिक चेतना खोती जा रही है। सम्पूर्ण विश्व अशान्त एवं तनावपूर्ण स्थिति में है। बौद्धिक विकास से प्राप्त विशाल ज्ञानराशि और वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख-सुविधा एवं आर्थिक समृद्धि, मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक एवं सामाजिक विपन्नता को दूर करने में सक्षम नहीं प्रतीत होती है। तत्त्वमीमांसीय और नीतिशास्त्रीय आलोक में आधुनिक युग की इन समस्याओं का समाधान जैन दृष्टि प्रस्तुत करता है।

जैन दर्शन के सिद्धान्त जीवन की विविध समस्याओं एवं अध्यात्मवाद की चुनौतियों का समाधान करने में भी सफल है। आज हम जीवन में चतुर्दिक अनेकानेक संघर्ष, हिंसा, ईर्ष्या, राग-द्वेष आदि देखते हैं, जो मानवीयता के साथ ही मानव के अस्तित्व के लिए भी खतरनाक है। जैन दर्शन द्वारा उपदिष्ट अनैकान्तिक दृष्टि, समत्व और सहानुभूति का पालन करते हुए इससे बचा जा सकता है और मानव-मानव के बीच प्रेम, सहिष्णुता, शान्ति के साथ ही स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के आदर्श को भी स्थापित किया जा सकता है। इन भावों को ही अभिव्यक्त करने के लिए जैन दर्शन में अहिंसा की सम्यक् व्याख्या की गयी है जिसका मन, वचन और काय से पालन करते हुए कोई भी मनुष्य जीवन के उच्च आदर्शों को प्राप्त कर सकता है। इस सन्दर्भ में श्री टी०एन० रामचन्द्र द्वारा प्रस्तुत भगवान् महावीर स्मृति ग्रन्थ की कुछ पंक्तियों को रखा जा सकता है - "भगवान् महावीर ने ऐसी साधु संस्था का निर्माण किया था, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर आधारित थी। उनका 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त सारे संसार में २५०० वर्षों में अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। अन्त में इस सिद्धान्त ने नव भारत के पिता महात्मा गाँधी को जन्म देकर अपनी ओर आकर्षित किया। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि अहिंसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा गाँधी ने नवीन भारत का निर्माण किया है।"[२]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन द्वारा स्थापित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सिद्धान्त मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन की विषमता को दूर कर अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त करता है। प्रो० के०सी० सोगानी ने जैन दर्शन और विशेष रूप से महावीर की दृष्टि पर प्रकाश डालते हुये आधुनिक युग में सामाजिक पुर्ननिर्माण में अहिंसा आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर जोर दिया है -

"The social values which were regarded by Mahāvīra as basic are ahiṁsā, aprigraha and anekānta. These three are the consequence of Mahavira's devotedness to the cause of sociall reconstruction....."[3]

जैन दर्शन अहिंसा का अमूल्य संदेश भी प्रदान करता है। भगवान् महावीर तो अहिंसा के साक्षात अवतार थे। अहिंसा का यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, भीरूता, शोक, घृणा आदि विकृत भावों के त्याग में निहित है। हिंसा से बचने तथा अहिंसा के संरक्षण के लिये भगवान् महावीर ने अहिंसात्मक आचरण पर बल दिया है।

प्रमुख जैन विचारक समन्तभद्र ने कहा है - "भगवान महावीर का संपूर्ण जीवन अहिंसा का रचनात्मक सूत्र और सत्य की शोधशाला थी।"[८] अहिंसा, सत्य आदि की चर्चा करते हुए ज्ञानोदय की पंक्ति को इस संदर्भ में उद्धृत किया जा सकता है - "अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप अपरिग्रह आदि महान आदर्शों के प्रतीक भगवान महावीर हैं। इन महाव्रतों की अखण्ड साधना से उन्होंने जीवन का बुद्धिगम्य मार्ग निर्धारित किया था और भौतिक शरीर के प्रलोभनों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक भावों की शाश्वत विजय स्थापित की थी।"[९]

आज जो दुनियाँ में रंगभेद, राष्ट्रभेद, जाति भेद आदि विषमताओं का उदय हो रहा है, पूँजीवाद की जो समस्या है, वह सहज में सुलझ सकती है, यदि संसार के समस्त सम्पतिशाली लोगों के हृदय में ये बात बैठ जाए कि -

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।[४]

साथ ही उदय में यह बात उदित करनी होगी कि -

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवर्जवं च मानुषस्य[५]

कहा गया है -

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।[६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज राष्ट्र में घृणा, जातिगत, अहंकार आदि विकार समा गए हैं। इनसे देश का जितना विनाश होगा उतना तो कोई अणु बम भी नहीं कर पायेगा, क्योंकि आत्मगत दोषों द्वारा जीव ऐसे गड्ढे मे गिरता है कि वहाँ से विकास का मार्ग ही सदैव के लिए रुक जाता है। आज राजा-प्रजा का, धनी-निर्धन का, मिल मालिक-मजदूर का शोषण कर रहा है। आज समाज की सारी व्यवस्थाएँ अर्थमूलक हो गई हैं और इसी अर्थ के लिए संघर्ष हो रहा है। ऐसे में जैन दर्शन मनुष्य को परस्पर सहयोग, सहानुभूति, ऐक्य, उदारता, प्रेम, सन्तोष, स्पष्टवादिता, निर्भीकता, संयम बरतने की बात कर सामाजिक समरसता प्रदान करता है। इस संदर्भ में पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर की पंक्ति उधृत करना प्रासंगिक है -

"इसलिए परिग्रह परिमाण व्रत के स्वरूप में कहा गया है कि अपनी आवश्यकता तथा मनोवृत्ति के अनुसार धन-धान्यादि की मर्यादा को बाँध लेने से चित्त लालच के रोग से मुक्त हो जाता है। मार्यादा के बाहर की सम्पत्ति के बारे में 'ततोऽधिकेषु निःस्पृहता' का भाव रखना आवश्यक कहा है।"[७]

यह परग्रिह ही समस्त अनर्थों का मूल है। परिग्रह की लालसा ने मानव को स्वार्थी और पथ भ्रष्ट बना दिया है। आज अगर जैन आचार सम्मत अपरिग्रह व्रत का पालन किया जाये तो अनेक समस्याएँ अपने आप सुलझ जायेंगी, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

यदि अनेकान्तवाद के अनुसार दूसरे की बातों एवं कार्यों के महत्त्व को हम समझें, अस्तेय के अनुसार दूसरे की सम्पत्ति का लोभ न करें, अपरिग्रह के अनुसार आवश्यकता से अधिक संयम न करें और ब्रह्मचर्य के अनुसार अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करें तो निश्चित ही समाज से असमानता, शोषण, लूटमार, जनसंख्या आदि पर नियंत्रण किया जा सकता है, साथ ही मूल्य-प्रधान समाज के निर्माण की भूमिका प्रशस्त की जा सकेगी। जैन-दर्शन अनासक्ति का मूल्यवान संदेश देता है। इस सन्देश से प्रेरित होकर मनुष्य अपनी लालसा पर अंकुश लगा सकता है, भौतिक सुखों के प्रति विकर्षित होकर मनुष्य आत्म-संतोषी होने का प्रयास कर सकता है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार शुभ कर्मो के फल सदा शुभ ही होंगे और अशुभ कर्मों के फल कदापि शुभ नहीं होंगे। स्वभावतः मनुष्य शुभ फलाकांक्ष ही होता है। करूणा, क्षमाशीलता औदार्य आदि ऐसे गुण हैं जो अहिंसक समाज की संरचना के लिए भी हमें सहजतः प्रेरित करते हैं। मनुष्य एवं प्राणियों के प्रति बन्धुत्व और स्नेह का नाता, एक-दूसरे के प्रति हितैषिता का भाव मानवीय प्रवृत्ति के अंग हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म की अनेकान्तदृष्टि सामाजिक बुराइयों का परिहार करके अपने कर्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करने की हमें अद्भूत शक्ति प्रदान करती है। जैन धर्म दर्शन की अनैकान्तिक विचारणा के कारण ही हमारे देश ने वैयक्तिक व्यवहार में ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में भी अहिंसा आदि तत्त्व के मौलिक रूप को बहुत हद तक स्वीकार किया गया है। जैन धर्म-दर्शन की इस समन्वयवादी दृष्टि को प्रस्तुत करते हुये समन्त भद्राचार्य ने अपने 'युक्त्यानुशासन' नामक ग्रन्थ में महावीर के जैन शासन को सब आपदाओं का निवारक, शाश्वत सर्वोदय तीर्थ कहा है -

"सर्वापदामन्तै निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तथैव।"

जैन दर्शन में स्याद्वाद की चर्चा भी पाते हैं जो समस्याओं का समाधान करने में जैन-परम्परा से लेकर आज तक मानव-समाज की मदद करते आया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, अनेकान्तवाद, स्यादवाद, कर्म सिद्धान्त की व्याख्या, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र रूपी त्रिरत्न मानव समाज के लिए कल्याणकारी है। और वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में अध्यात्मवाद की चुनौतियों का समाधान करने में अचूक औषधि सिद्ध होता है। आध्यात्मिकता मानव जीवन में ही रचा-बसा है, आवश्यकता है केवल उसे पहचानने तथा जीवन में अक्षरश: उतारने की। आज अध्यात्मवाद की चर्चा एवं महत्ता की बात सर्वत्र चल रही है क्योंकि बिना आध्यात्मवादी दृष्टि अपनाये, आज मानवता की रक्षा संभव प्रतीत नहीं होती। जैन दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि से ही आज मानवता की रक्षा संभव है।

ऐसे तो सभी धर्मों में आध्यात्मवादी विचारों का विशेष स्थान है, परन्तु अन्तर्दृष्टि एवं आत्म समीक्षण का जितना अधिक विचार जैन धर्म एवं दर्शन में किया गया है उतनी मात्रा में कदाचित अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि जैन-धर्म को आत्म-धर्म कहते हैं। इसके सिद्धान्त उदार, सार्वभौमिक, सार्वदायिक और सर्वहितकारी है। हठ धर्म की आधारशीला न ईश्वर है, और न कोई व्यक्ति विशेष ही। इसकी आधारशिला वीतरागता अर्थात् अध्यात्म है। यही एक मात्र शान्ति मार्ग है।

सन्दर्भ :

१. शास्त्री नेमिचन्द्र : **'तीर्थंकर महावीर और उनकी परम्परा'**, पृ० ५८८.
२. श्री टी०एन० रामचन्द्र, **भगवान महावीर, स्मृति ग्रन्थ**, भाग-१, १९४८-४९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. 'Spirituality Science and Technology', 'World Philosophy Conference' organising secretariat centre for studies in civilization, 36 Tughlakabad Institutional Area, New Delhi -110 062, P. 55-56.

४. समन्तभद्र, **युक्त्यानुशासन** - ६१, वीर सेवा मंदिर, सरसावा, वि०सं० २००८.

५. **ज्ञानोदय** - नवम्बर १९५२, अंक ५, पृ० ३७९.

६. **तत्त्वार्थसूत्र**, अध्याय ६/१६.

७. वही, अध्याय ६/१८.

८. वही, अध्याय ६/२४.

९. पं सुमेरूचन्द्र दिवाकर, **जैनशासन**, पृ० ३८८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाति व्यवस्था और हमारा दायित्व

डॉ० कमलेश कुमार जैन*

किसी समुदाय विशेष को जाति कहते हैं। यह जाति शब्द प्रारम्भ में किसी एक विचारधारा के लोगों के लिये प्रयुक्त हुआ होगा। वामन शिवराम आप्टे ने अपने **संस्कृत-हिन्दी कोश** में जाति शब्द के अनेक अर्थ किये हैं, जिनमें एक अर्थ यह भी किया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - ये हिन्दुओं की चार जातियाँ हैं। उन्हीं के अनुसार जाति शब्द का एक दूसरा अर्थ है - पशुजाति, पुष्पजाति आदि। जैन दार्शनिकों में आचार्य उमास्वातिकृत **तत्त्वार्थसूत्र** के 'गतिजाति.....' आदि सूत्र में उल्लिखित जाति शब्द की व्याख्या करते हुये आचार्य पूज्यपाद ने **सर्वार्थसिद्धि** में लिखा है कि - तासु नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्या जाति:। तन्निमित्तं जातिनाम। तत् पञ्चविधम्-एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रिजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति। यदुदयात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम् (८/११)/ अर्थात् उन नरकादि (आदि पद से यहाँ तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतियाँ अभीष्ट हैं) गतियों में जिस अव्यभिचारि सादृश्य से एकपने रूप अर्थ की प्राप्ति होती है, वह जाति है और इसका निमित्त जाति नाम कर्म है। वह पाँच प्रकार का है - एकेन्द्रिय जातिनाम कर्म, द्वीन्द्रिय जातिनाम कर्म, त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म, चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम कर्म। जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय कहा जाता है, वह एकेन्द्रिय जातिनामकर्म है। इसी प्रकार शेष जातियों में भी योजना करनी चाहिये।

आवश्यकनिर्युक्ति की हारिभद्रीयवृत्ति में लिखा है - 'जाति : मातृसमुत्था' अर्थात् माता के वंश से जाति का प्रादुर्भाव होता है। **धवला टीका** के अनुसार - 'जातिर्जीवानां सदृशपरिणाम:' अर्थात् जीवों के समान परिणामों का नाम जाति है। यहाँ उपर्युक्त तीनों परिभाषाएँ एक ही तथ्य की ओर इङ्गित करती हैं कि - जिस मानव समुदाय के कार्य-कलापों अर्थात् कर्म में एकरूपता हो अथवा जिनके विचारों में परस्पर साम्य हो वह एक जाति है। यह वर्गीकरण मानव मात्र के लिये है, किन्तु जब हम एकेन्द्रिय आदि जीवों की अपेक्षा विचार करते हैं तो हमें वहाँ भी उनके शारीरिक

* *रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकार-प्रकार अथवा गुणधर्म की अपेक्षा विचार करके जाति का निर्धारण करना होगा। आज के वैज्ञानिक भी इसी पद्धति से जाति का निर्धारण करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात तो स्पष्ट है कि जाति के निर्धारण में गुण, कर्म अथवा आकार-प्रकार आदि ही कारण हैं। परवर्ती काल में जन्म को आधार बनाकर जो जाति-निर्धारण हुआ है वह भी वस्तुत: परम्परा से प्राप्त उन गुणों, कर्मों अथवा आकार-प्रकार को आधार बनाकर ही हुआ है।

प्राचीन परम्परा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में जो मानव-समुदाय का वर्गीकरण हुआ है वह कर्म के आधार पर ही था। अर्थात् जो विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न थे वे ब्राह्मण; जो देश की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा में लगे वे क्षत्रिय; जो वस्तुओं के आयात-निर्यात के माध्यम से जनसामान्य के उपयोग में आने वाली आवश्यक वस्तुओं को उपलब्ध कराते हुये देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने में लगे वे वैश्य और जो लोक निर्माण के लिये उपयोगी वस्तुओं को तैयार करने में लगे वे शूद्र कहलाये।

वस्तुत: कोई भी कर्म बुरा नहीं है। बुरा है उस कर्म के प्रति की जाने वाली असावधानी। फिर वह असावधानी किसी भी वर्ग अथवा जाति द्वारा क्यों न की गई हो। किसी राज्य या संगठन के लिये ज्ञान सम्पदा, सुरक्षा व्यवस्था आर्थिक सन्तुलन और उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन - ये चार घटक मूल रूप से अत्यावश्यक हैं। हम चाहें तो इन्हें समाज में स्वाभिमानपूर्वक जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी चार मूल-स्तम्भ भी कह सकते हैं। इन चार स्तम्भों पर ही हमारा समग्र विकास सम्भव है। इनके सन्तुलित रहने पर ही किसी संस्कृति का विकास और तदनन्तर उसकी सुरक्षा की जा सकती है।

उपर्युक्त चार घटकों अथवा स्तम्भों के संवाहक उपर्युक्त चार वर्ग अथवा जातियाँ ही हैं, जिनका उल्लेख हिन्दू धर्म के प्रमुख ग्रन्थ **वेद** और **मनुस्मृति** आदि से लेकर जैन और बौद्धधर्म के ग्रन्थों में भी समान रूप से किया गया है।

भगवान् बुद्ध के उपदेशों से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले पालिग्रन्थ **धम्मपद** में एक 'ब्राह्मण-वग्ग' आया है, जिसमें ४० गाथाओं में ब्राह्मण की परिभाषा अस्ति और नास्तिमुखेन की गई है तथा बतलाया गया है कि जो पार, अपार और पारापार नहीं है, निर्भय है, अनासक्त है, वह ब्राह्मण है। यहाँ पार, अपार और पारापार - ये तीन पारिभाषिक शब्द आये हैं, जिनका सामान्य अर्थ यह है कि जो पञ्चेन्द्रियों और मन के प्रति प्रमादी नहीं है और उनके विषयों में आसक्त नहीं है तथा जो मैं अर्थात् अहङ्कार से मुक्त है वह वस्तुत: ब्राह्मण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो ध्यानी, निर्मल, स्थिरचित्त, कृतकृत्य और आश्रव रहित है, जिसने उत्तामार्थ (निर्वाण) को पा लिया है वही ब्राह्मण है। जिसने पापों को धोकर बहा दिया है वह ब्राह्मण है। आगे कहा गया है कि ब्राह्मण पर प्रहार नहीं करना चाहिये और ब्राह्मण को भी क्रोध नहीं करना चाहिये तथा उसे हिंसा आदि से विरत रहना चाहिये (गाथा ३, ४, ६, ७, ८)। कोई भी व्यक्ति जटा, गोत्र अथवा जन्म से ब्राह्मण नहीं होता है, अपितु जिसमें सत्य और धर्म है वही पवित्र है और वही ब्राह्मण है। माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण कोई ब्राह्मण नहीं होता, अपितु जो अपरिग्रही और त्यागी है वही ब्राह्मण है। आगे की गाथाओं में बतलाया गया है कि जो हिंसा, झूठ, चोरी, आदि से रहित है, संयमी है, तृष्णा विहीन है, ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण है। मेरी दृष्टि में यहाँ ब्राह्मण का अर्थ श्रेष्ठ व्यक्ति से है। चूंकि उस समय सदाचारी ब्राह्मण ही श्रेष्ठ थे, अत: उन-उन सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ब्राह्मण कहा गया है। क्योंकि जन सामान्य इसी शब्द से परिचित था।

जैन शास्त्रों में भी स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि मनुष्य अपने कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है। जैन पुराणों के अनुसार प्रारम्भ में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - ये तीन ही वर्ण थे, किन्तु बाद में भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने अहिंसा व्रत के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों की परीक्षा करके ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। अर्थात् जो अहिंसा व्रत का पालन करते थे वे ब्राह्मण कहलाये।

जैन पुराणों के उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि अहिंसा-व्रत का पालन करने के कारण भरत चक्रवर्ती द्वारा सम्मानित उन व्रती महापुरुषों की परम्परा के लोगों में क्रमश: अहङ्कार की भावना प्रबल हो गई और अपने व्रतों अथवा आचरण से च्युत होने लगे और बाद में शनै: शनै: जन्म को जाति का आधार मान लिया गया।

हिन्दू शास्त्रों में जाति को जो अनादि कहा गया है, वह यदि पूर्वोक्त अर्थों अर्थात् एक कर्म, जैसे विद्या का अध्ययन-अध्यापन करने वाले सभी एक जाति के हैं अर्थात् ब्राह्मण हैं। एक समान विचारधारा को मानने वाले सभी एक जाति जैसे समाजवादी हैं और एक आकार-प्रकार के लोग एक जाति अर्थात् मनुष्य जाति के हैं इसमें कहीं कोई आपत्ति नहीं है और होनी भी नहीं चाहिये। हाँ आपत्ति वहाँ अवश्य होती है जहाँ आचार-विचार से शून्य होकर भी मनुष्य अपने आपको 'जन्मन:' उच्च जाति या वर्ग का मानकर अपने को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहता है और उन सभी विशेषाधिकारों की अपेक्षा करता है जो उसे कभी संयम या सदाचार के कारण प्राप्त हुये थे। ऐसे 'जन्मन:' उच्चजातीय या उच्चवर्गीय, किन्तु 'कर्मण:' पतित लोगों की कुत्सित मनोवृत्ति के कारण जनमानस उद्वेलित हो गया और तत्कालीन समाज के चिन्तकों किंवा प्रबुद्धजनों के नेतृत्व में क्रान्ति हुई और 'जन्मन:' जातिवाद को मानने वालों का डटकर विरोध हुआ, जो आज भी कमोवेश जारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य समाज का दर्पण होता है, अत: तत्कालीन साहित्य में स्पष्ट रूप से दो प्रकार के विचारों का उल्लेख मिलता है। एक विचार वह था जो 'जन्मन:' जाति को आधार बनाकर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता था और दूसरा विचार वह था जो 'कर्मण:' जाति व्यवस्था के पक्ष में था। वस्तुत: दूसरा पक्ष वंशानुगत वर्चस्व स्थापित करने वालों का विरोध था और विरोध का माध्यम बना 'जन्मन:' जाति व्यवस्था।

विक्रम की ग्यारहवीं शती के जैन-तार्किक आचार्य प्रभाचन्द्र ने **प्रमेयकमलमार्तण्ड** में ब्राह्मण-जाति का निरास किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय 'जन्मन:' जातिवाद चरमोत्कर्ष पर था।

विभिन्न जातियों या विचारधाराओं का होना बुरा नहीं है। बुरा है उसी विचारधारा मात्र को सत्य मानकर शेष एक बहुत बड़े समूह को नकार देना, उसकी उपेक्षा करना। 'जन्मन:' जाति व्यवस्था को स्वीकार करना एक पक्ष हो सकता है, किन्तु अन्य अनन्त पक्षों को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण है। इस संघर्ष को जैनाचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित स्याद्वाद पद्धति से सहज ही टाला जा सकता है।

हमारे सामने एक लम्बा अतीत है, जिसके सम्बन्ध में हमने यत्किञ्चित् सुना है और पढ़ा भी है। दूसरी ओर हमारे सामने एक लम्बा भविष्य है, जिसके सम्बन्ध में हम अच्छी या बुरी कल्पना मात्र कर सकते हैं, किन्तु इन दोनों में से एक हमारे हाथ से निकल चुका है और दूसरा हमारे हाथ में आ भी सकता है और नहीं भी। इन दोनों के मध्य एक तीसरा हमारा वर्तमान है जो हमें सहज प्राप्त है, अत: हमें अपने वर्तमान को उदात्त विचारों और सदाचरण से सजाना एवं सँवारना चाहिये। क्योंकि यही सत्य है और यही तथ्य है। हम न भूत में जियें और न भविष्य में, जियें तो वर्तमान में जियें। हमारा वर्तमान ही अतीत बनकर हमें सुख की अनुभूति करायेगा और भविष्य हमारे सत्कर्मों से सुधरेगा। अत: वर्तमान को सुधारने में ही हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगाना चाहिये।

व्यक्ति-व्यक्ति से मिलकर समाज का निर्माण होता है। विविध समाज मिलकर एक देश बनता है और अनेक देशों से विश्व का निर्माण होता है। अत: व्यक्ति सुधरेगा तो समाज सुधरेगा। समाज सुधरेगा तो देश सुधरेगा और देश सुधरेंगे तो विश्व सुधरेगा तथा हम व्यक्ति-निर्माण से विश्व-निर्माण की कल्पना कर भारतीय संस्कृति के सनातन सिद्धान्त 'वसुधैव कुटुम्बकम्, की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाँधी एवं शाकाहार

डॉ० शैलबाला शर्मा*

महात्मा गाँधी का उद्देश्य किसी जीवन दर्शन का विकास या मान्यताओं एवं आदर्शों की प्रणाली निर्मित करना नहीं था। ऐसा करने की न ही उनमें कोई अभिलाषा थी और न ही उनके पास इतना वक्त था। वे मूलत: सत्य और अहिंसा के पुजारी थे और इसके पालन में ही उनका दृढ़ विश्वास था। उन्होंने अपने जीवन में आने वाली सभी समस्याओं को चुनौती के रूप में स्वीकार किया। कोई भी समस्या चाहे राजनैतिक हो, सामाजिक हो, धार्मिक, औद्योगिक, कृषि एवं श्रम सम्बन्धी हो; सभी के व्यावहारिक पहलुओं का इन्होंने सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन किया। सभी को गाँधी ने यथार्थ के धरातल पर रख कर निपटाने का प्रयत्न किया। यही नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्यायें जैसे आहार, वस्त्र, जाति प्रथा, अस्पृश्यता को भी इन्होंने बहुत महत्व प्रदान किया। भारतीय समाज एवं संस्कृति से सम्बन्धित कोई भी पहलू ऐसा अछूता नहीं जिसे इन्होंने प्रभावित नहीं किया। इसी में से एक पहलू है शाकाहार (अन्नाहार)।

शाकाहार के सम्बन्ध में गाँधीजी का मानना था कि "मनुष्य शरीर की रचना देखने से शाकाहारी ही लगतीं है। उसके दांत, अमाशय इत्यादि उसे शाकाहारी सिद्ध करते हैं।" इन्होंने स्वीकार किया है "मैं शाकाहार का पक्षपाती हूँ"। लंदन की वेजिटेरियन सोसाइटी के साप्ताहिक मुख पत्र 'वेजिटेरियन मेसेन्जर' में समय-समय पर गाँधी के अन्नाहार सम्बन्धी विचार प्रकाशित होते रहे हैं। इनके संकलित रूप को नीचे प्रस्तुत किया गया है:

"भारत में करोड़ों लोग निवास करते हैं। वे भिन्न-भिन्न जातियों एवं वर्गों के हैं। हिन्दू मुख्यत: चार वर्णों में बंटे हुए हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन सबमें सिद्धान्त की दृष्टि से तो केवल ब्राह्मण और वैश्य ही शुद्ध शाकाहारी हैं, परन्तु व्यवहार में प्राय: सभी भारतीय अन्नाहारी हैं। कुछ लोग स्वेच्छा से अन्न का आहार करने वाले हैं, परन्तु शेष के लिये अन्नाहार आवश्यक है।.... भारतीय अर्थात् भारतीय अन्नाहारी-माँस, मछली और मुर्गी के अलावा अण्डे खाने से भी परहेज करते हैं। उनका तर्क यह है कि अण्डा खाना जीवहत्या करने के बराबर है, क्योंकि यदि अंडे को छेड़ा न जाये तो स्पष्ट है कि उससे बच्चा पैदा होगा परन्तु जिस तरह यहाँ के कट्टर अन्नाहारी दूध और मक्खन से भी परहेज करते हैं, वैसा भारतीय अन्नाहारी नहीं

* *शोध अधिकारी, त्रिलोक उच्च स्तरीय अध्ययन एवं अनुसंधान संस्थान, कोटा (राज.)*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते। उलटे वे तो उन्हें फलाहार-उपवास के दिनों में सेवन करने योग्य पवित्र वस्तुएँ मानते हैं।''[१] (७-२-१८९१)

''भारतीय अन्नाहारियों के बारे में एक बात अक्सर कही जाती है सो यह है कि वे शारीरिक दृष्टि से बहुत दुर्बल हैं और इसका अर्थ है कि, अन्नाहार शारीरिक शक्ति के साथ मेल नहीं खाता।.... भारत में अन्नाहारी लोग भारतीय मांसाहारियों से और यों कहिये कि अंग्रेजों से भी अधिक हृष्ट-पुष्ट नहीं तो उनके बराबर जरूर हैं और इसके अलावा जहां कहीं दुर्बलता देखने में आती है वहाँ उसका कारण निरामिष आहार नहीं, बल्कि कुछ और ही है।''[२] (२१-२-१८९१)

''कोई चाहे जो आहार ग्रहण करे, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का एक साथ बराबर विकास होना तो असंभव मालूम होता है। हाँ इसमें विरले अपवाद भलें ही हों। क्षतिपूर्ति नियम की माँग होगी कि मानसिक शक्ति में जितनी वृद्धि होती है, शारीरिक शक्ति उतनी घटती है।''[३] (२८-२-१८९१)

''आमतौर पर माना जाता है कि भारत में सब लोग अन्नाहारी हैं परन्तु यह सही नहीं है। यहाँ तक कि सब हिन्दू भी अन्नाहारी नहीं हैं। परन्तु यह कहना बिल्कुल सही होगा कि भारतवासियों की भारी बहुसंख्या अन्नाहारी है। उनमें से कुछ तो अपने धर्म के कारण अन्नाहारी हैं, अन्य लोग अन्नाहार पर निर्वाह करने को बाध्य हैं, क्योंकि वे इतने गरीब हैं कि मांस खरीद ही नहीं सकते।... भारतीय मांसाहारी मांस को जीवन के लिये आवश्यक वस्तु नहीं, केवल एक विशेष भोजन की वस्तु मानते हैं। यदि उन्हें उनकी रोटी... मिल जाये तो मांस के बिना उनका काम मजे में चल जाता है।''[४]

''मांस खाने की आदत वास्तव में समाज की प्रगति में बाधक हुई है। इसके अलावा, जिन दो महान समाजों को एकता के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करना चाहिये, उनके बीच उसने अप्रत्यक्ष रूप से फूट पैदा कर दी है।'' (१-६-१८९१)

''अगर कुछ साधन-सम्पन्न और अन्नाहारी साहित्य से सुपरिचित लोग संसार के भिन्न-भिन्न भागों की यात्रा करें, विभिन्न देशों के साधनों की जांच पड़ताल करें, अन्नाहार के दृष्टिकोण से उनकी संभावनाओं का लेखा-जोखा लें और जिन देशों को अन्नाहार प्रचार के लिये तथा आर्थिक दृष्टि से बसने के लिये उपयुक्त समझें, उसमें निवास करने के लिये अन्नाहारियों को आमंत्रित करें, तो अन्नाहार के प्रचार का बहुत ज्यादा कार्य किया जा सकता है। गरीब अन्नाहारियों के लिये उन्नति के नये स्थान पाये जा सकते हैं और संसार के विभिन्न भागों में अन्नाहरियों के सच्चे केन्द्र स्थापित किये जा सकते हैं।''[५] (२१-१२-१८९४)

गाँधी जी द्वारा लिखित उपर्युक्त लेखों का यदि विश्लेषण करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत मूलत: अहिंसावादी देश है और इसकी रचना मूलत: 'सर्वजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिताय' पर आधारित है। यहाँ के अधिकांश व्यक्तियों में अहिंसा, दया, परोपकार आदि की भावना व्याप्त है। वे ऐसा कोई भी कर्म नहीं करना चाहते जिससे किसी प्राणी को पीड़ा या कष्ट हो अथवा किसी को ठेस पहुँचे। जिन व्यक्तियों में ऐसी भावना निहित हो वे मांसाहार की कल्पना भी नहीं कर सकते। कुछ लोगों का मानना है कि कुछ विशिष्ट वनस्पतियों के भक्षण से भी हिंसा होती है। इस बात को गाँधी ने भी आंशिक रूप से स्वीकार करते हुये कहा है कि मांस भक्षण और वनस्पति भक्षण दोनों में हिंसा है। परन्तु एक वस्तु के बिना मनुष्य कहीं भी नहीं जी सकता। दूसरे (मांसाहार) के बिना प्राय: सभी जगह जी सकता है। यदि जीव जीव में दु:ख के ज्ञान का भेद है तो जो दु:ख गाय को मरने के समय होता है वह वनस्पति जीव को नहीं हो सकता। जीव मात्र के लिये कुछ न कुछ हिंसा अपरिहार्य है। अर्थात गाँधीजी अनिवार्य हिंसा को स्वीकारते थे।

भारत में निवास करने वाली जनसंख्या का केवल १० प्रतिशत भाग ही मांसाहारी है शेष ९० प्रतिशत शाकाहारी प्रवृत्ति के हैं। आधुनिकता के इस युग में मांसाहारी भोजन का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। यह वृद्धि मुख्यत: भूमण्डलीकरण की देन है। इस बढ़ती मांसाहारी प्रवृत्ति पर शीघ्र नियंत्रण की आवश्यकता है। लोगों में व्याप्त यह भ्रम कि मांस से शरीर बलिष्ठ बनता है मिथ्या है। शरीर के पोषण के लिये मांस खाना आवश्यक नहीं। शाकाहारी मनुष्य शारीरिक शक्ति, मन और बुद्धि आदि बातों में मांसाहारी से किसी भी रूप में कम नहीं होते। इसके विपरीत शाकाहारी व्यक्तियों में दृढ़ता एवं सहनशक्ति तथा कार्यक्षमता अधिक होती है। मांसाहारी व्यक्तियों में सहनशीलता और स्थिरता का नितांत अभाव होता है। इसके सेवन से मनुष्य का विवेक, मानवीयता व नैतिकता नष्ट हो जाती है तथा हिंसा, अमानुषिकता, द्वेष, निर्दयता एवं दुष्कर्मों की भावना जाग्रत हो जाती है। यही तत्व मनुष्य को अनुचित कार्य करने के लिये प्रेरित करते हैं। मांसाहार के आर्थिक तत्वों की ओर भी गाँधी ने ध्यान आकर्षित किया है। आर्थिक दृष्टि से यदि गौर करें तो पाते हैं कि शाकाहार की तुलना में मांसाहार कई गुना अधिक मंहगा होता है। मांसाहार मुख्य भोजन नहीं है अपितु मांस को खाने के लिये शाकाहार की भी आवश्यकता होती है। केवल मांस ही मांस नहीं खाया जा सकता परन्तु सूखी रोटी खाई जा सकती है। एक स्थान पर गाँधी कहते हैं: "अंग्रेज मांसाहारियों को देखिये। वे मानते हैं कि मांस उनके लिये अनिवार्य है। रोटी उन्हें मांस खाने में मदद करती है। दूसरी ओर भारतीय मांसाहारी मानता है कि मांस उसे रोटी खाने में मदद करेगा।"[६]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गाँधीजी जो अहिंसा के पुजारी थे पूर्णत: शाकाहार के समर्थक एवं मांसाहार विरोधी थे। शाकाहार एवं मांसाहार पर समय-समय पर सम्पूर्ण विश्व में बहस छिड़ती रही है। इसी संदर्भ में गाँधी द्वारा लिखित एक पत्र जो उन्होंने डर्बन के दैनिक समाचार पत्र 'नेटाल मर्करी' के सम्पादक को ३ फरवरी १८९६ में लिख था, उल्लेखनीय है:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जब सर हेनरी टामसन कहते हैं कि मांसाहार को जीवन-पोषण के लिये समझना एक गंवारू भूल है और यह चोटी के शरीरशास्त्रवेत्ता घोषित करते हैं कि मनुष्य का प्राकृतिक आहार फल है और जब हमारे सामने बुद्ध, पाइथागोरस, प्लेटो, रे, डैनियल, वेजले, होवार्ड, शेली, सर आइज़क पिटमैन, एडीसन, सर डब्ल्यू०बी० रिचार्डसन आदि अनेकानेक महान व्यक्तियों के अन्नहारी होने के उदाहरण मौजूद हैं, तब स्थिति उलटी क्यों होनी चाहिये? ईसाई अन्नाहारियों का दावा है कि ईसा भी अन्नाहारी थे और इस विचार का खण्डन करने वाली कोई भी बात दिखलाई नहीं पड़ती। ..... दक्षिण अफ्रीका की सबसे सफल मिशनरी (ट्रेपिस्ट्स) अन्नाहारी हैं। प्रत्येक दृष्टि से देखने पर अन्नाहार को मांसाहार की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ साबित किया जा चुका है। अध्यात्मवादियों का मत है और शायद आम प्रोटेस्टेंट धर्म शिक्षकों को छोड़कर शेष सारे धर्मों के आचार्यों के व्यवहार से मालूम होता है कि, मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति को जितनी हानि अविवेकपूर्ण मांसाहार से पहुँचती है उतनी किसी दूसरी चीज से नहीं पहुँचती। ..... आधुनिक युग की ईश्वर विषयक संशयशीलता, भौतिकवाद और धार्मिक उदासीनता का कारण बहुत ज्यादा मांसाहार तथा मद्यपान है। जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति अंशत: या पूर्णत: नष्ट हो गयी है।"[७]

उपर्युक्त पत्र से यह स्पष्ट है कि विश्व के समस्त धर्मों में अहिंसा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सभी धर्मों में शाकाहार (अन्नाहार) को महत्व प्रदान करते हुये मांसाहार के अनेक दोष बताये गये हैं। सभी धर्म मांसाहार को आयु क्षीण करने तथा पतन के मार्ग की ओर ले जाने वाला बताते हैं। हिन्दू धर्म में सभी जीवों को ईश्वर का अंश मानते हुए अहिंसा, दया, परोपकार एवं क्षमा आदि को सर्वोपरि माना है। इस्लाम में भी कहा गया है कि "दूसरे के बहाये गये खून की प्रत्येक बूंद का हिसाब अपने खून से चुकाना पड़ेगा।" ईसाई धर्म कहता है "यदि तुम शाकाहारी भोजन को अपना आहार बनाओगे तो तुम्हे जीवन और शक्ति मिलेगी लेकिन यदि तुम मांसाहारी भोजन करोगे तो वह मृत आहार तुम्हे भी मार देगा।" बौद्ध और जैन धर्म तो पूर्णत: अहिंसा पर ही आधारित हैं। महावीर स्वामी ने सर्वप्रथम 'जिओ और जीने दो' तथा 'अहिंसा परमोधर्म:' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सिक्ख धर्म में भी हिंसा की मनाही और जीव दया पर बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जो जीव हत्या या हिंसा का समर्थक हो फिर यह मांसाहार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का क्या कारण है? आज के इस दौर में मांसाहार लेना फैशन और आधुनिकता का प्रतीक माना जाने लगा है। आधुनिक युवा वर्ग इस भ्रम में है कि यदि उसे कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त करना है तो उसे शराब व मांस का सेवन करना ही पड़ेगा। परन्तु यह पूर्णत: भ्रम एवं सत्य से दूर है। मांसाहार नैतिक पतन की ओर ही ले जाता है।

गांधीजी ने मांसाहार के दुर्गुणों पर प्रकाश डालते हुये अपने पत्र में लिखा है: "अन्नाहारी नीतिवादी इस बात पर अफसोस करते हैं कि स्वार्थी मनुष्य अपनी अति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रबल और विकारी भूख मिटाने के लिये मनुष्य जाति के एक समुदाय पर कसाई का पेशा लादते हैं, जबकि वे स्वयं ऐसा पेशा करने से सिहर उठेंगे.... साधारणतः मांस और मदिरा तो साथ-साथ ही चलते हैं, क्योंकि अन्नाहार, जिसमें रसीले फलों का सबसे महत्वपूर्ण स्थान होता है, शराबखोरी का सबसे सफल इलाज है। मांसाहार से तो शराब की आदत पड़ती या बढ़ती है। मांसाहार न केवल अनावश्यक है, बल्कि शरीर के लिये हानिकारक भी है। इसलिये उसकी लत अनैतिक और पापमय भी है। उसके कारण निर्दोष पशुओं पर अनावश्यक क्रूरता बरतना और पीड़ा पहुंचाना आवश्यक होता है।....."[८]

उपर्युक्त विचारों को अपनी भावनाओं में एक विद्वान् ने इस प्रकार व्यक्त किया है : "मांसाहार द्वारा कोमल सद्भावनाओं का नष्ट होना व स्वार्थ,निर्दयता आदि भावनाओं का पनपना ही आज विश्व में बढ़ती हुई हिंसा, घृणा व दुष्कर्मों का मुख्य कारण है। मांसाहार वासनाओं को भड़काता है और वासनाएं जितनी पूरी की जाती हैं उतनी अधिक भड़कती हैं। इनकी कभी भी तृप्ति नहीं होती। जब इनकी तृप्ति में बाधा आती है तो क्रोध उत्पन्न होता है क्रोध से सही गलत का विवेक समाप्त हो जाता है जिससे बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होने से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा सर्वनाश हो जाता है। अर्थात मांसाहार सर्वनाश की ओर ले जाता है।"[९]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि जहाँ एक ओर मांसाहार से क्रूरता, निर्दयता, हिंसक मनोवृत्ति, उत्तेजना, अपराधिक मनोवृत्ति, दुष्कर्म एवं असाध्य रोगों में वृद्धि होती है वहीं दूसरी ओर शाकाहार हमारे अन्दर लोकहित, मैत्री और आत्मीयता की भावना का संचार करता है। यही वह तत्व है जो हमें संवेदनशील बनाता है और विश्व बन्धुत्व की भावना जागृत करता है। अपने को पहचानने एवं ईश्वर से साक्षात्कार करने का शाकाहार सबसे अच्छा माध्यम है। आज भौतिकवादी एवं आधुनिकता के युग में इसकी आवश्यकता और बढ़ गयी है। इसी संदर्भ में गांधीजी का मानना था कि :

"अन्नाहार सबसे सस्ता आहार है और उसे आमतौर पर अख्तियार कर लिया जाये तो आज भौतिकवाद की द्रुत प्रगति और थोड़े से लोगों के पास भारी सम्पत्ति संग्रह के साथ-साथ सामान्य लोगों में दरिद्रता की जो द्रुत गति से वृद्धि हो रही है, उसका अन्त करने में नहीं तो उसे घटा देने में निश्चय ही बहुत मदद मिलेगी।"[१०]

प्रसिद्ध जैन कवि कल्याण कुमार 'शशि' की निम्न कविता शाकाहार एवं मांसाहार में भेद करने में सहायक सिद्ध हो सकती है :

"शाकाहार उदार वृत्ति को नया जन्म देता है
यही तामसिक आवेशों को बरबस हर लेता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन वैसा बनता है जैसा अन्न मनुज खाता है
त्याज्य वस्तुओं को खाने से रक्त बिगड़ जाता है।।

मांसाहार सशक्त हृदय को असंतुलित करता है
क्रूर भावनाएँ कठोरता, निष्ठुरता भरता है
जो भक्षण के लिये प्राण निर्दयता से हरते हैं
खून खराबे हिंसा हत्या, वही अधिक करते हैं।।

आओ हिंसा के विरोध में एक साथ जुट जायें
श्रद्धा से इसके विरुद्ध ऊंची आवाज उठायें
सब जीने के अधिकारी हैं, जीओ और जीने दो
निर्मल गंगाजल सबका है, प्रेम सहित पीने दो।।

ममता, समता, दया, अहिंसा धार्मिक पहरेदार
यह सारे हिन्दू समाज की, संस्कृतियां सुखकारी
घृणा वृष्टि को घृणा दृष्टि को देखे सब संसार
अत: देश से दूर कीजिये बढ़ता मांसाहार।।

आत्मबोध उज्जवल चरित्र का नायक शाकाहार
विश्व शान्ति उज्जवल चरित्र का उपवन शाकाहार
आत्मोन्नति उज्जवल चरित्र का दायक शाकाहार
जिओ और जीने देने का पोषक शाकाहार।।[११]

अन्त में गाँधी के शब्दों में कह सकते हैं "जैसा आहार वैसा ही आकार। जो मनुष्य अत्याहारी है, जो आहार में विवेक या मर्यादा ही नहीं रखता, वह अपने विकारों का गुलाम है। जो स्वाद को नहीं जीत सकता, वह कभी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य को युक्ताहारी और अल्पाहारी बनाना चाहिए। शरीर आहार के लिये नहीं, आहार शरीर के लिये है। शरीर अपने आप को पहचानने के लिये मिला है। अपने आप को पहचानना, अर्थात् ईश्वर को पहचानना। इस पहचान को जिसने अपना परम विषय बनाया है वह विकारवश नहीं होगा।"[१२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गाँधीजी ने न केवल शाकाहार पर अपने मत प्रकट किये हैं अपितु इस बात पर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है कि मनुष्य को कितना भोजन लेना चाहिए जो उसकी जीवन रक्षा एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हो। इसी संदर्भ में उन्होंने कहा है "सब खुराक औषधि के रूप में लेनी चाहिए स्वाद के खातिर हरगिज नहीं। स्वाद मात्र रस में होता है और रस भूख में है।"[१३] इसके लिये इन्होंने आत्मसंयम के कुछ नियम बताये जिनका यदि मनुष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईमानदारी से पालन करे तो स्वस्थ्य एवं सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। इन नियमों में से कुछ इस प्रकार हैं :

१. जीभ के स्वाद के लिये भोजन न करें। २. भोजन की मात्रा और उसका समय बांध लें। ३. नशीली चीजों का सेवन न करें। ४. अपनी संगति, अपने पठन-पाठन, अपने मनोरंजन और अपने भोजन को नियम में बांधें।[१४]

सन्दर्भ :

१. **सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय**, खण्ड १, १८८४-१८८६, नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद १९५८ ई० 'आहार' पृष्ठ - २४-३५ एवं **वेजिटेरियन मैसेन्जर** (मैन्चेस्टर के अन्नाहारी मण्डल का मुखपत्र)।

२. वही, पृष्ठ - ३०, **वेजिटेरियन मैसेन्जर**, ७-२-१८९१।

३. वही, पृष्ठ - ३२, **वेजिटेरियन मैसेन्जर**, २१-२-१८९१।

४. वही, पृष्ठ - ४५, **वेजिटेरियन मैसेन्जर**, २८-२-१८९१।

५. वही, पृष्ठ - २९४, **वेजिटेरियन मैसेन्जर**, १-६-१८९१।

६. वही, पृष्ठ - ४५, **वेजिटेरियन मैसेन्जर**, २१-१२-१८९४।

७. वही, पृष्ठ - २९६ एवं **नेटाल मर्करी** (डर्बन का दैनिक समाचार पत्र) के सम्पादक को लिखा गाँधीजी का ३ फरवरी, १८९६ का पत्र जो 'आहार का सिद्धान्त' शीर्षक से लिख गया।

८. वही।

९. श्री गोपीनाथ अग्रवाल, **जैन गजट**, वर्ष - ९७, अंक १२, २८ जनवरी, १९९३, पृष्ठ - ६।

१०. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड १, पृष्ठ - २९६।

११. कल्याण कुमार शशि, **जैन गजट**, वर्ष - ८८, अंक - १५-२२ फरवरी, १९८३, पृष्ठ - ६।

१२. आरोग्य की कुंजी, **सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय**, खण्ड - ७७, पृष्ठ - ३२।

१३. वही, पृष्ठ - २१।

१४. आत्मसंयम बनाम विषयासक्ति, **यंग इंडिया** २४-३-१९२७, पृष्ठ - १९९-२००।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनों की नास्तिकता धर्मनिरपेक्ष समाज का आदर्श

डॉ० काकतकर वासुदेव राव*

आम लोगों की धारणा के अनुसार नास्तिक स्वार्थी एवं असामाजिक होते हैं। ईश्वर, पाप, पुण्य, पुनर्जन्म आदि का निराकरण करते हुए वे केवल भौतिक भोगवाद का समर्थन करते हैं। नास्तिकों पर "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" जैसे जीवन के 'आदर्शों' का आरोप प्रसिद्ध है। सामान्य जनों की ऐसी धारणा के बावजूद भारत में नास्तिक दर्शनों की अविच्छिन्न परंपरा चली आयी है। चार्वाक, बौद्ध और जैन ये तीन भारत के प्रमुख नास्तिक (निरीश्वरवादी) दर्शन हैं। चार्वाक दर्शन पर प्रतिपक्ष के विद्वानों द्वारा लिखित साहित्य उपलब्ध है। इस में निंदात्मक खंडन पर ही बल दिया गया है।[१] चार्वाकों के पक्ष में पर्याप्त साहित्य के अभाव के कारण यहां उस दर्शन का विचार करना अनुचित है। बौद्ध दर्शन पर विपुल साहित्य उपलब्ध है और बौद्ध धर्म भारत के बाहर भी कई देशों में फैल गया है। तथापि खुद भारत में इस धर्म की मान्यता कई सदियों से घटती आयी है। इस वास्तविकता के कई कारण हो सकते हैं। फिर भी यह निर्विवाद है कि भारतीय जनमानस में बौद्ध दर्शन अपना स्थान कायम करने में विफल रहा है।[२] यद्यपि जैन दर्शन का आधार भी निरीश्वरवाद है तथापि उसकी परंपरा निरंतर चली आयी है। जैनेतर चिंतक भी इस दर्शन का आदर करते हैं। अब प्रश्न यह है कि भारत में ही नहीं, पूरे संसार में आस्तिक दर्शनों का समर्थन करने वालों की बहुलता के बाद भी जैन दर्शन का आदर क्यों होता है?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए आस्तिकता और नास्तिकता में मूलभूत अंतर क्या है यह स्पष्ट करना होगा। आस्तिक दर्शनों में यह गृहीततत्त्व के रूप में माना गया है कि इस विश्व का निर्माण एवं परिपालन करने वाला कोई अलौकिक पुरुष या एक से अधिक देव हैं। मानव के शरीर में एक शाश्वत एवं अभौतिक तत्त्व है जिसे आत्मा कहते हैं। मृत्यु के समय आत्मा शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। स्वभाव से सभी मानव मोहपाश में बंधे हैं और पापकर्मों में प्रवृत्त होते हैं। पापकर्मियों को ईश्वर दंडित करता है। यदि पापी अपनी गलतियों को पहचान कर भक्तिभाव से ईश्वर की शरण में जाते हैं तो वे पापमुक्त हो कर सुख प्राप्त करते हैं। ईश्वर स्वभावतः दयालु है। फिर भी अपनी अवहेलना करने वालों को वह कठोर दंड देता है।[३] आस्तिक सिद्धांतों की विविधता होते हुए भी सृष्टिकर्ता, अविनय से क्रुद्ध

* ४४ *आनंदवन, ए-६ पश्चिम विहार, नयी दिल्ली -११००६३*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं अनुनय से संतुष्ट होने वाले ईश्वर का अस्तित्व आस्तिक दर्शनों में स्वीकृत है। इन धारणाओं के विपरीत विश्व की सृष्टि करने वाले, अवज्ञा से कुपित एवं स्तुति से प्रसन्न होने वाले ईश्वर का अस्तित्व नास्तिक दर्शनों में स्वीकृत नहीं है। चार्वाक दर्शन में आत्मा एवं पुनर्जन्म की कल्पना भी नहीं है। जैन दर्शन में यद्यपि आत्मा, पुनर्जन्म, पुण्य एवं पाप की कल्पना स्वीकृत है तथापि अनुनय से संतुष्ट हो कर सुख देने वाला और अवहेलना से क्रुद्ध होकर पीड़ा देने वाला सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं है। अतएव जैन दर्शन की गणना नास्तिक (निरीश्वरवादी) दर्शनों में होती है।

आस्तिक हों या नास्तिक सभी सामाजिक स्थिरता चाहते हैं। सदाचार द्वारा समाज में शांति और सुरक्षा स्थापित करने वाली व्यवस्था ही धर्म है।[४] अपनी-अपनी सैद्धांतिक मान्यताओं की बुनियाद पर धार्मिक आचार के मानक नियम निरूपित किये गये हैं। प्राचीन काल में जब दार्शनिक सिद्धांत निरूपित हुए तब आधुनिक विज्ञान नहीं था। केवल तर्क से ही दर्शनों का निरूपण होता था। प्रत्यक्ष और प्रयोग से प्रस्थापित ज्ञान के अभाव में तर्क के प्रवाह कई दिशाओं में चल सकते हैं। अत: अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार सभी धार्मिक आचार सही माने जाते हैं। प्राय: सभी दार्शनिकों ने भी अपने-अपने सिद्धांत स्थिर एवं सदा के लिए अपरिवर्तनीय माने हैं। कोई अपने प्रमाण ग्रंथों में निर्दिष्ट तत्त्व को असत्य नहीं मानता। परिणामत: बौद्धिक विकास के साथ निरंतर हो रही विज्ञान की प्रगति का किसी दर्शन ने लाभ नहीं उठाया। फलस्वरूप बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल धार्मिक आचार में परिवर्तन नहीं हुआ। व्यापार तथा आर्थिक व्यवहारों में निरंतर होने वाले बदलाव के फलस्वरूप अब किसी समाज में एक ही धर्म के अनुयायी नहीं हैं। सभी देशों में, सभी राज्यों एवं शहरों में और सभी ग्रामों में भी धार्मिक विविधता प्रस्थापित हुई है। अब इसे बदलना न ही संभव है और न ही वांछित।

विविध आचार नियमों की बुनियाद अनतिक्रमणीय माने गये दार्शनिक सिद्धांत होने के कारण सभी देशों में धार्मिक गुटों का परस्पर सामंजस्य कम होता जा रहा है। फलस्वरूप हिंसात्मक संघर्ष की घटनाएं होती हैं जो सभी सामाजिक इकाइयों के लिए क्लेशकारक हैं। सामाजिक क्षोभ के कारण पूरे राष्ट्र की प्रगति कुंठित होती है। इस विपदा से छुटकारा पाने के लिए देशों ने एक धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) प्रणाली अपनायी है जिस में शासनाधीन नीति-नियम सभी नागरिकों के लिए समान होते हैं। भारत के संविधान में धर्मनिरपेक्षता को मान्यता दी गयी है। यद्यपि भारत का शासन धर्म निरपेक्ष है तथापि धार्मिक गुटों में हिंसात्मक संघर्ष जारी हैं। इस संदर्भ में कई सवाल उठते हैं। धर्मनिरपेक्षता का सही अर्थ क्या है? क्या इस विचारधारा में किसी धर्म का कोई स्थान नहीं है? क्या धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में क्रमश: विभिन्न धर्मों का अस्तित्व ही नष्ट होगा? ऐसे कई प्रश्न हैं जिनका समाधान ढूंढ़ना पड़ेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुनिष्ठ से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि दार्शनिक सिद्धांत एवं उन से विकसित आचार नियम मानवनिर्मित हैं। यद्यपि सामाजिक हित प्राप्त करने के लिए निर्दिष्ट नियम समाज के विकास तथा परिवर्तनों के अनुसार समय-समय पर बदलने पड़ते हैं तथापि वे आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं के लिए अलग नहीं हो सकते। सभी नागरिकों के लिए दंडसंहिता, विवाहबंधन से उत्पन्न दायित्व, पैतृक संपत्ति पर अधिकार आदि शासनाधीन नियम समान होने चाहिए। इस के विपरीत देवतानुग्रह से भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के उपाय दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार कई प्रकार के हो सकते हैं। नास्तिकों के लिए इन आचार नियमों की जरूरत नहीं। स्पष्ट है कि शासनाधीन नियम ऐसे हों कि वे सभी समुदायों के लिए समान हों, अर्थात् वे धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) नियम हों।

कुछ लोग समझते हैं कि धर्मनिरपेक्ष शासन में विभिन्न धर्मों के प्रति अनादर हो सकता है और इस से क्षोभ उत्पन्न होगा। इसलिए वे सर्वधर्मसमभाव या सर्वधर्म समान आदर जैसे आदर्शों की बात करते हैं। इस से उत्पन्न संभ्रम को दूर करना होगा। आस्तिक दर्शनों में श्रद्धा का अर्थ है अपने सिद्धांत को सही तथा अन्य सभी सिद्धांतों को गलत मानना। इस से यह स्पष्ट है कि कोई सच्चा आस्तिक सभी दार्शनिक परंपराओं के प्रति समभाव या समान आदर नहीं अपना सकता। अपने दर्शन में श्रद्धा और अन्य दर्शनों के प्रति सामाजिक व्यवहार में उदासीन भाव ही आस्तिक की स्वीकार्य नीति है। नास्तिकों का रुख तो सभी आस्तिक दर्शनों के प्रति तात्विक दृष्टि से समान अनादर है। यदि वे सामाजिक व्यवहार में आस्तिक दर्शनों के प्रति उदासीन भाव रखें तो कोई क्षोभ नहीं हो सकता।

१. आचार के विभिन्न आयाम

मानव का आचार अपने-अपने दर्शन के आधार पर तीन प्रकार का हो सकता है। १. लौकिक (आधिभौतिक, सेक्युलर), २. आध्यात्मिक (स्पिरिच्युअल) तथा ३. आधिदैविक (कर्मकांडात्मक)। जिस दर्शन में ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि कल्पनाएं गृहीत नहीं हैं (जैसे चार्वाक दर्शन में) उसमें आचार केवल ऐहिक व्यवहारों तक ही सीमित होता है। जैन और बौद्ध दर्शन में आत्मा, पुनर्जन्म आदि कल्पनाएं गृहीत हैं। अत: लौकिक आचार के साथ-साथ आत्मोन्नति के उपाय निर्धारित किये जाते हैं। तप, उपवास, दान, ध्यान आदि का इन में समावेश होता है। ईश्वर को प्रसन्न करने के उपाय भी आचार में समाविष्ट होते हैं। यज्ञ, पूजा, भजन आदि ईश्वर कृपा पाने के उपाय माने जाते हैं। पुनरुक्ति करते हुए भी इस बात को दोहराना जरूरी है कि सभी दार्शनिक मान्यताओं के लिए ऐहिक सदाचार समान रूप से आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क) सामाजिक शांति का आधार-श्रावकाचार

यदि ऐहिक अर्थात् सामाजिक सदाचार के नियम किसी दार्शनिक श्रद्धा से विसंगत नहीं तो वे पूरे समाज में समान रूप से स्वीकृत होंगे। ऐसी व्यवस्था में कोई अपनी श्रद्धा के अनुसार दार्शनिक तत्त्वों पर आधारित पूजा, भजन आदि धार्मिक नियमों का पालन करने के लिए स्वतंत्र है। हां, यदि कोई आचार दूसरों को क्षति पहुंचाए तो उसे रोकना शासन का कर्तव्य बनता है। यदि अन्य धर्म के लोगों के पूजा स्थान या देवता की प्रतिमा नाश करने या उनको अपवित्र करने का आदेश कहीं 'धार्मिक कर्तव्य' के रूप में निर्दिष्ट किया गया है तो ऐसे आचार को रोकना शासन का आद्य कर्तव्य है।

क्या ऐसे कोई सदाचार के नियम हैं जो पूरे सभ्य एवं शांतिप्रिय समाज को समान रूप से मान्य हों? उत्तर स्पष्ट है कि जैन श्रावकाचार एक मात्र धार्मिक आचार है जो लगभग ज्यों का त्यों सब को स्वीकार्य होगा। 'लगभग' इस लिए कहा कि दो हजार साल पुरानी श्रद्धाओं पर आधारित कुछ नियम नये ज्ञान के संदर्भ में काल बाह्य हो गये हैं। उनका परिष्कार करने से मूल सिद्धांत का उल्लंघन नहीं होता। वे सबके लिए मान्य होंगे क्यों कि उन में कोई आचार किसी अन्य धार्मिक श्रद्धा से विसंगत नहीं हैं।

ख) तीन रत्न और पांच व्रत

सही दर्शन, यथार्थ ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र - ये तीन मिल कर नि:श्रेयस् अर्थात् परमार्थ के मार्ग हैं।[५] इन्हीं को जैन दर्शन का रत्नत्रय कहते हैं। इस से स्पष्ट है कि दर्शन पर आधारित यथार्थ ज्ञान और तदनुसार आचरण यही परमार्थ का साधन है। जब तीर्थंकरों ने आर्हत् दर्शन का निरूपण किया उस समय द्रव्य का जीव एवं अजीव इस प्रकार वर्गीकरण यथायोग्य लगता था। उसी आधार पर उनका दार्शनिक सिद्धांत बना। उस सिद्धांत में प्रचलित धारणा के अनुसार यह माना गया कि जीव नित्य तथा मृत्यु के पश्चात् अन्यत्र शरीर धारण करते हैं। सुख एवं दु:ख दोनों अशाश्वत हैं। संसार चक्र से अंतिम छुटकारा पाना और अनंत सुख (मोक्ष) प्राप्त करना ही नि:श्रेयस् है। जैन दर्शन की यह विशेषता है कि तीर्थंकरों या पश्चात्कालीन आचार्यों ने किसी प्रमाण ग्रंथ का पुरस्कार नहीं किया। तथापि उनके अनुयायी धर्मप्रचारकों ने वैदिक संप्रदाय का अनुकरण करते हुए बढ़ते हुए ज्ञान के अनुसार प्राचीन सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं किया। परिणामत: यह उन्नत दर्शन भी प्रगत नहीं हो सका।

जैन श्रावकाचार की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उस के सभी नियम सामाजिक शांति एवं स्थैर्य से संबंधित हैं। यद्यपि यह कहा गया है कि इस आचार से पाप कर्म नष्ट हो कर पुण्य बंध होता है तथापि इस प्रक्रिया को केवल श्रद्धा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही मानना पड़ेगा। प्राय: सभी वैदिक आचार का फल भौतिक सुख समृद्धि के साथ-साथ आत्मोन्नति भी कहा गया है। प्राय: सभी धार्मिक अनुष्ठान "धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थफलसं सिद्ध्यर्थम्" इस संकल्प के साथ किये जाते हैं। अत: धार्मिक आचार में पूजा, भजन, होम-हवन आदि कर्मकांड का प्राधान्य होता है। इसके विपरीत श्रावकाचार में अहिंसा आदि व्रत और इन व्रतों के पालन में त्याग, तप आदि आचार पर अधिक बल दिया गया है। व्रतों एवं उनके अतिचारों का ऐसी मतिसूक्ष्मता से प्रस्तुत वर्णन किन्हीं अन्य धर्मशास्त्रों में नहीं मिलता। समचित्त भाव से सोचने पर यह स्पष्ट होता है कि इन व्रत-नियमों का सीधा संबंध सामाजिक सुख शांति से ही है।

व्रत का अर्थ है पाप कर्म से विरति।[६] हिंसा, अनृत (असत्य), चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह - ये पांच पाप कर्म हैं। इन से पूर्ण विरति महा व्रत हैं जो श्रमण अर्थात् मोक्षसाधक साधुओं के लिए हैं। गृहस्थ जीवन व्यतीत करनेवाले श्रावकों को जितनी व्यवहार्य है उतनी विरति अणुव्रत है। मद्य, मांस, द्युत (जुआ) तथा हिंसा आदि पांच पाप कर्मों का त्याग - ये आदर्श श्रावक के गुण हैं। कोई दुष्कर्म कृत, कारित एवं अनुमत समान रूप से पाप कहा गया है। श्रावक गुणों पर कितनी गंभीरता से विचार किया गया है उसके कुछ उदाहरण देखें। साथ ही साथ इनमें से अधिकांश नियम आज भी प्रासंगिक हैं यह स्पष्ट होगा।

१. हिंसा से विरति - किसी जीव को कष्ट पहुंचाने के लिए किया हुआ कार्य हिंसा है।[७] इसमें मनोवृत्ति का बड़ा महत्त्व माना गया है। हिंसा के कई प्रकार हो सकते हैं। किसी जीव को चाकू जैसे साधन से क्षति पहुंचाना, बंधन में रखना, पीड़ा देना, क्षमता से अधिक भार लादना, खाने-पीने से वंचित रखना - ये सब स्थूल हिंसा के उदाहरण हैं। वैदिक परंपरा में यज्ञ के समय पशुबलि की प्रथा प्रचलित थी जो सामाजिक विरोध के कारण कम हुई है। आगे चल कर जब यथार्थ पशु की जगह पिष्ट पशु जैसे पशुप्रतीक का यज्ञ में प्रयोग किया गया तब भी उसे जैनाचार्यों ने हिंसा करार कर दिया क्यों कि सूक्ष्म विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि यज्ञ करने वाला मन में पशु को ही मारता है।

बड़े खेद की बात है कि आज भी नवरात्रि आदि पर्वों में हजारों पशु धर्म के नाम पर मारे जाते हैं। आज कल सभी सभ्य समाजों में अकारण जीवहिंसा को कानून से निषिद्ध एवं दंडनीय माना जाता है। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन काल में प्राणि हिंसा के विरुद्ध कानून बनाये गये जो परिष्कृत रूप में आज भी प्रचलित हैं।[८] कानून के बावजूद धार्मिक श्रद्धा का समर्थन करते हुए देश में पशु बलि की प्रथा आज भी जारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य अमृतचंद्र द्वारा रचित **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** में हिंसा के विषय में विस्तार से विवेचन किया गया है।[९]

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।

इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः।।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।

इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः।।

(**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**, श्लो० ७९, ८०)

भावार्थ - "(हमारा) श्रेष्ठ धर्म बहुत ही सूक्ष्म है, अर्थात् सामान्यविवेक से परे है। धर्म के लिए की गयी हिंसा में दोष नहीं है" - ऐसा सोचते हुए प्राणिहिंसा नहीं करनी चाहिये। (एक और दलील देते हुए) "धर्म का विधान देवताओं ने किया है। अतः इस लोक में जो भी है उसे देवताओं को समर्पित करना चाहिये" - इस प्रकार की विवेकशून्य बुद्धि से हिंसा नहीं करनी चाहिये।

वस्तुतः अहिंसा धर्म ही बहुत सूक्ष्म है। हिंसा के लिए प्रयुक्त साधन (जैसे चाकू, तलवार, बंदूक, बम आदि) बनाना एवं उनके क्रय-विक्रय से धन कमाना भी हिंसा है। यदि कई लोगों ने मिल कर एक ही जीव की हत्या की तो उन सभी को समान रूप से हिंसा का पाप मिलेगा। बाघ, सिंह आदि 'हिंसक' पशु कई अन्य जीवों को मारते हैं। ऐसे मांसाहारी जीवों को मारने से अनेक जीवों की रक्षा होती है। अतः कोई ऐसा तर्क कर सकते हैं कि 'हिंसक' पशु मारना हिंसा नहीं है। इसका उत्तर यह है-

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।

इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्।। **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**, ८३।।[१०]

जैन दर्शन में अहिंसा को जितना महत्त्व दिया है उतना शायद ही किसी अन्य दर्शन में दिया गया हो।

२. असत्य से विरति - स्वयं असत्य बोलना, दूसरे से कहलाना या असत्य बोलने की अनुमति देना पाप है।[११] आपत्काल में भी सत्य व्रत का पालन करना चाहिये। केवल विनोद के लिए भी असत्य बोलना पाप है। स्वामीसमंतभद्र ने **रत्नकरण्डश्रावकाचार** में कहा है कि धर्माचरण के विपरीत अर्थात् गलत उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, किसी की बात को विपर्यस्त करके प्रकट करना तथा अपने पास सौंपी गयी वस्तु, धन आदि के बारे में लौटाते समय विस्मृति का स्वांग करना - ये सभी सत्य व्रत के अतिचार हैं। "सत्यम् ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः।।" इस प्रसिद्ध सुभाषित में भी सत्य व्रत का पालन कैसे हो यह मार्मिक ढंग से कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस व्रत का महत्त्व वर्तमान में कई गुना बढ़ा है। नीतिसम्मत मार्ग से कमाये धन पर राजस्व (टैक्स) देना सभी नागरिकों का कर्तव्य है। इस से बचने के लिए लोग कई तरीके ढूंढते हैं। दिखाने के लिए ट्रस्ट बना कर उसकी संपत्ति स्वजनों के लिए या खुद के लिए लेना पाप है। कानूनबाह्य तरीकों से धन कमा कर राजस्व की लेखा में उसे न दिखाना तो इस से भी बड़ा पाप है। प्राय: लोग ऐसे दुराचार अपना कर दंड से बचते हैं। फिर भी इस तरह के व्यवहार से सामाजिक अधोगति अवश्य होती है। ऐसे तरीकों से कमाये गये काले धन के कारण भारत की आर्थिक प्रगति कुंठित हुई है। कानून से सब अपराध रोकना संभव नहीं है। यहां धर्म (सही अर्थ में) ही तरणोपाय है। यदि पूजा-पाठ के दिखावे से परावृत्त हो कर सभी नागरिक श्रावकाचार का पालन करें तो रामराज्य का आदर्श अनुभव में अवश्य आयेगा।

३. अस्तेय व्रत - चोरी की व्यापक व्याख्या केवल दो शब्दों में दे कर उमास्वाति ने अपना उन्नत वाग्विलास दर्शाया है। "अदत्तादानं स्तेयम्"[१२] अर्थात् जो किसी ने न दिया हो उसे लेना चोरी है। गाड़ कर या अन्य किसी प्रकार छिपाया हुआ, अमानत में सौंपा गया, भूल से कहीं रख कर छोड़ा हुआ परस्व लेना भी चोरी है। स्वामीकार्तिकेय ने कहा है[१३] ठगी से बहुमूल्य वस्तु कम मूल्य में लेना तथा भूल से छोड़ी गयी वस्तु लेना पाप है। समंतभद्र के अनुसार दूसरों से चोरी करवाना, चोरी का धन लेना, प्रचलित कानून का उल्लंघन करते हुए धन कमाना, मिलावटी वस्तुएं बेचना तथा नाप-तौल में हेरा फेरी करना - ये सभी चोरी के प्रकार हैं। यद्यपि धंधे में 'यशस्वी' होने की लालसा से ऐसे पाप कर्म करने वाले कुछ समय के लिए कानून के शिकंजे से बच जाते हैं तथापि अंतत: दु:खी होते हैं। श्रावक धर्म के नियमों के सही पालन से ही वर्तमान समाज में क्षोभ मिट कर शांति स्थापित हो सकती है।

४. स्वदारसंतोष व्रत - इस व्रत के नाम से ही उसका अर्थ स्पष्ट होता है। आधुनिक समाज में इस विषय में शासनाधीन कानून हैं। फिर भी अधिकांश सामाजिक अपराधों का मूल कारण इस व्रत के अतिचार से ही उत्पन्न होता है। इस व्रत के अतिचार को बढ़ावा देने वाला साहित्य (अश्लील कविता, कहानी, नाटक आदि) लिखना एवं दूरदर्शन सिनेमा जैसे माध्यमों द्वारा प्रस्तुत करना एक घोर अपराध है। इसके कारण सामाजिक मूल्यों का पतन हो कर सभी प्रकार के अपराध बढ़ते हैं।

५. भोगोपभोगपरिमाण व्रत - यह जैन चिंतन की अमूल्य देन है। प्राय: जैनेतर धार्मिक आचार का उद्देश्य ऐहिक संपत्ति, भोग-विलास तथा अंत में स्वर्ग आदि काल्पनिक सुख है। धन की देवी लक्ष्मी की कल्पना इसी मानसिकता से उत्पन्न हुई है।

किसी भी वस्तु को प्राप्त करने में कुछ न कुछ हिंसा अवश्य होती है। इसलिए जैनाचार्यों ने वस्तुसंग्रह को यथासंभव सीमित करने का उपदेश दिया। इस व्रत के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्व की व्यापकता आज कल बढ़ती जा रही है। गृहस्थाश्रम के दायित्व को निभाने के लिए कई वस्तुओं का संग्रह अनिवार्य है। जरूरत से अधिक संग्रह करना ही इस व्रत का अतिचार है। भोग और उपभोग में अंतर स्पष्ट करने से इस व्रत के बारे में कुतर्क करने वालों को सही दिशा दिखायी जा सकती है। जो वस्तु एक बार प्रयोग करने पर दुबारा प्रयुक्त नहीं हो सकती उसे भोग वस्तु कहते हैं। जो वस्तु बार-बार प्रयुक्त हो सकती है उसे उपभोग की वस्तु कहते हैं।[१४] अन्न आदि भोग वस्तुओं के अतिप्रयोग की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि उसके पर्याप्त सेवन से तृप्ति मिलती है। भविष्य में प्रयोग के लिए भी संग्रह सीमित होता है क्योंकि अति संग्रह बेकार सड़कर नष्ट होता है। अत: कोई विवेकी मनुष्य खुद के लिए भोग वस्तुओं का अतिमात्र संग्रह नहीं करता।[१५] उपभोग वस्तुओं के संग्रह की तो कोई सीमा ही नहीं। नये कपड़े, जूते, आभूषण जरूरत के बिना भी खरीदे जाते हैं। आकर्षक नमूनों की विविध वस्तुएं बनाकर व्यापारी अपना व्यापार बढ़ाते हैं। इस कारण 'उपभोक्तावाद' (कन्स्यूमरिज्म्) नाम की नयी आर्थिक विकृति पैदा हुई है। जब औद्योगीकरण प्रारंभ हुआ तब कोई इस विकृति की विकरालता का आकलन नहीं कर सका। उपभोग्य वस्तुओं की विपुलता ही आर्थिक और सामाजिक विकास का ध्येय बनाया गया। तब किसी अर्थशास्त्री ने नहीं सोचा होगा कि अरण्यनाश, भूस्खलन, बाढ़, पर्यावरण का प्रदूषण और वर्गकलह जैसी अनर्थपरंपरा उपभोगवाद को बढ़ावा देने से पैदा होगी। आज भी व्यापार जगत में विज्ञापनों द्वारा उपभोगवाद को बढ़ावा दे कर 'आर्थिक विकास' करने का (वास्तव में कर लेने का) उद्देश्य सर्वोपरि माना जाता है। उद्योग बढ़ने से रोजगार बढ़ कर गरीब श्रमजीवियों का फायदा होगा ऐसी दलील दी जाती है। फिर भी गरीबों के कल्याण के लिए अब तक किसी उद्योगपति ने कारखाने नहीं खोले। उपभोगवाद के दुष्परिणामों से कोई अछूता नहीं रह सकता।

परिग्रहपरिमाण व्रत श्रावकाचार का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श है और इसे औद्योगीकरण से कई शतक पहले ही निरूपित किया गया। इस से जैन चिंतकों की दूरदर्शिता स्पष्ट होती है।[१६] कुतर्क करने वाले कह सकते हैं कि निर्धन लोगों के पास आवश्यक वस्तुएं भी नहीं होतीं तो अतिसंग्रह का सवाल ही नहीं। तो क्या वे लोग आदर्श व्रती हैं? इस का उत्तर **द्वादशानुप्रेक्षा** में दिया जा चुका है। यदि वे दूसरों के पास भोगोपभोग की वस्तुएं विपुलता में देख कर असूया करते हैं और खुद भी, चाहे अन्याय से ही सही, प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें व्रती नहीं कहा जा सकता। वे मन में इस व्रत का अतिचार करते हैं और इस लिए दोषी हैं। यदि वे अपनी स्थिति से संतुष्ट हों और अधिक परिग्रह की इच्छा नहीं रखते हों तो उन्हें आदर्श व्रती कहने में कोई संकोच नहीं। स्वेच्छा से अकिंचन्य (गरीबी) स्वीकारना (voluntary poverty) आदर्श गुण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सल्लेखना व्रत - अब तक वर्णित पांच अणु व्रतों में सल्लेखना व्रत का समावेश नहीं है।[१७] फिर भी न केवल श्रमणों के लिए अपितु श्रावकों के लिए भी यह एक आदर्श व्रत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जन्म एवं मृत्यु जीवन रूपी सिक्के के दो पार्श्व हैं। जन्म होने पर मृत्यु अवश्य आती है। यह शाश्वत सत्य होते हुए भी मृत्यु का भय सब के मन में अवश्य होता है। वृद्धावस्था में अशमनीय रोगों की यातना सहन करते हुए जीवन के अंतिम दिन व्यतीत करने से मृत्यु को एक नैसर्गिक प्रक्रिया के रूप में सहर्ष स्वीकारना धार्मिक जीवन का श्रेष्ठतर आदर्श है। जैन चिंतकों ने इसे सल्लेखना व्रत कहा है।[१८] योग्य समय आने पर अन्न-पान की मात्रा क्रमशः कम करते हुए निर्मल चित्त से मृत्यु स्वीकारना आदर्श जीवन का अंत माना गया है। अनेक श्रमणों तथा श्रावकों ने सल्लेखना व्रत से देहत्याग किया है जिसका उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है।[१९] आधुनिक प्रगतिशील विचारधारा में यद्यपि स्वर्ग, मोक्ष जैसी प्राचीन दार्शनिक कल्पनाएं मान्य नहीं हैं तथापि दूसरों को कष्ट देते हुए, इलाज के लिए पारिवारिक संपत्ति का व्यर्थ व्यय करते हुए तथा स्वयं यातनाओं का अनुभव करते हुए अति दीन अवस्था में अंतिम दिन बिताने की अपेक्षा स्वाभिमान के साथ प्राण त्यागना अधिक श्रेयस्कर माना जाता है। आधुनिक काल में उपोषण करते हुए किसी आदर्श के लिए प्राणत्याग करने वालों के उदाहरण बहुत कम हैं। तथापि आयुर्विज्ञान के ऐसे तरीके उपलब्ध हैं जिन्हें अपना कर प्राणत्याग करना कठिन नहीं है। इसे स्वेच्छामरण (सदय प्राणमोचन, euthanasia) कहते हैं। हालैंड एक मात्र ऐसा देश हैं जहां इसे कानूनी अनुमति है। यद्यपि भारत सहित अन्य देशों में भी इसका समर्थन करने वाले कई चिंतक हैं तथापि अब तक विधिनिर्माताओं ने इस पर पर्याप्त गंभीरता से सोचा ही नहीं।[२०] पिछले कुछ दशकों में भारत में लोगों की औसत आयु बढ़ी है। इसके साथ-साथ वृद्धावस्था से जुड़े रोगों में भी वृद्धि हुई है। कई लोग अशमनीय रोगों की पीड़ा सहन करने के बजाय स्वाभिमान से यातनारहित मृत्यु स्वीकारने के लिए तैयार हैं। फिर भी कानून का प्रावधान न होने के कारण यह संभव नहीं है। श्रावकाचार की सामयिकता इस संदर्भ में स्पष्ट होती है। जहां परिवार नियोजन के नाम पर भ्रूण हत्या का भी प्रावधान है वहां सोच समझ कर अपनायी गयी इच्छा के सामने कानूनी अवरोध है इससे अधिक विडंबना क्या हो सकती है?

ग. श्रावकाचार में पूजा का समावेश

श्रावकाचार के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि निरीश्वरवादी होने के बावजूद जैन उन्मुक्त दुर्व्यवहार करने वाले नहीं हैं। फिर भी सामान्य लोगों का दुराग्रह मिटाना कठिन होता है। भारत में समय समय पर वैदिक धर्म को पुनरुज्जीवित करने के प्रयास किये गये हैं। ईसा की ९वीं सदी के आरंभ में शंकराचार्य ने अपने अद्वैत मत का प्रचार किया। उन्होंने पूरे देश में भ्रमण करते हुए शास्त्रार्थों में अपने विचार प्रभावी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढंग से प्रस्थापित किये। शंकराचार्य ने जैन और बौद्ध दर्शनों को वेदविरोधी नास्तिक दर्शन कह कर उन संप्रदायों पर शास्त्रार्थों में कठोर तात्त्विक प्रहार किया। उनके पश्चात् वेदांत दर्शन का समर्थन करने वाले रामानुजाचार्य तथा पूर्णप्रज्ञ जैसे दार्शनिकों ने भी जैन एवं बौद्ध दर्शन का खंडन जारी रखा। फलस्वरूप वैदिक धर्म का कांडत्रय (श्रौत कर्म, ज्ञान मार्ग तथ उपासना योग) बहुसंख्य लोगों ने अपनाया। अपने को उच्च वर्ण का दिखाने के लिए कुछ हद तक ब्राह्मणों का अनुकरण करते हुए जैनों ने अपना नास्तिकता का 'कलंक' मिटाने का प्रयास किया। नियम से रोज पूजा करना, यज्ञोपवीत, पुंड्रधारण आदि बाह्य आडंबर अपनाकर खुद को उच्च वर्ण का दिखाने का उन्होंने प्रयत्न किया।

पूजा के दो प्रकार हो सकते हैं - १. भावपूजा (मन में ईश्वर के या आदर्श पुरुषों के उन्नत गुणों का मनन एवं अपने जीवन में उनका अनुकरण) तथा २. द्रव्यपूजा (भक्ति भाव से ईश्वर की स्तुति करना और उसके प्रतीक विग्रह, लिंग, शालिग्राम या चित्र को पुष्प, दीप, नैवेद्य आदि समर्पित करना। वैदिक परंपरा में द्रव्य पूजा को अधिक महत्त्व दिया गया है। यद्यपि जैनागम में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकृत नहीं है तथापि नियम से आदर्श पुरुषों की स्तुति, सेवा आदि करना आत्मोन्नति के लिए पोषक माना गया है। प्राचीनतम श्रावकाचार में सामायिक का प्रावधान था।[२१] आदर्श पुरुषों के (तीर्थंकरों के) गुणों का मनन और उनके अनुकरण द्वारा आत्मोन्नति की साधना के लिए नियम से किया जाने वाला ध्यान ही सामायिक है। धीरे-धीरे वैदिक परंपरा का अनुकरण करते हुए श्रावकाचार में चैत्यवंदना का समावेश किया गया। इस प्रकार जैनों में मूर्तिपूजा की परंपरा प्रस्थापित हुई। संभवत: मूल जैनागम में मूर्तिपूजा का प्रावधान ही नहीं था। अब भी मूर्तिपूजा रहित जैन संप्रदाय हैं। तीर्थंकरों की मूर्ति बना कर उस की द्रव्यपूजा करना वैदिक धर्म के आदर्शों की ओर जैन समाज का झुकाव दर्शाता है। फिर भी अपने मूल सिद्धांत से समन्वय करने के लिए उन्हें मूर्तिपूजा का समर्थन करना पड़ा। निरीश्वर सिद्धांत के अनुसार मूर्ति पूजा का अर्थ क्या है? तीर्थंकर तो अब इस लोक में नहीं हैं। उनकी आत्माएं लोकाग्रस्थित सिद्धलोक में हैं। तो जड़ वस्तु से बनी प्रतिमा की पूजा सिद्धांत से विसंगत नहीं? सिद्धांत के अनुसार ऐहिक (भौतिक) फल ईश्वर की या जिनबिंब की कृपा से नहीं मिलता। जीवों के सुख-दु:ख अपने अपने कर्म से निर्धारित होते हैं। जैनों ने वैदिक आचार का अनुकरण करते हुए भी मूल सिद्धांत का त्याग नहीं किया। थोड़ा बहुत समझौता जरूर करना पड़ा है किंतु सिद्धांत से विसंगत आचार को स्वीकार नहीं किया। जैन पूजक की भूमिका वैदिक परंपरा की धारणाओं से भिन्न है।[२२] जिनबिंब की पूजा आत्मोन्नति के लिए प्रेरणा के रूप में ली गयी है। जिनबिंब को पूजा द्रव्य (हिंसा रहित फूल, फल तथा अन्य खाद्य पदार्थ) समर्पित किया जाता है लेकिन प्रसाद के रूप में कुछ भी लिया नहीं जाता।[२३] श्रावक चैत्यालय में द्रव्य का त्याग करने जाते हैं। जिनमंदिर से लौटने वालों के मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में पवित्र आचार के द्वारा आत्मोन्नति करने का निर्धार दृढतर होता है। जैन पूजा में भौतिक सुख की प्रार्थना नहीं की जाती।

यद्यपि प्रचलित श्रावकाचार में द्रव्यपूजा सम्मत है तथापि तत्त्वत: वह ऐच्छिक है। श्रावकाचार को स्वीकार करते हुए इस भाग का त्याग करने पर भी सामाजिक स्थैर्य का उद्देश संपन्न होता है।

२. श्रावकाचार से धर्मनिरपेक्षता का विकास

अब तक प्रस्तुत वर्णन से यह स्पष्ट है कि मूल श्रावकाचार धर्मनिरपेक्षता के आदर्श से मिलता जुलता है। श्रावकाचार की सामयिकता निरंतर बढ़ती दिखाई देती है। सैद्धांतिक समर्थन जो भी हो, अणुव्रतों का पालन पूरे समाज के लिए हितकारक है। जहां धर्मों की तथा सांस्कृतिक परंपराओं की विविधता है वहां भी यह आचार संहिता सब के लिए समान रूप से ग्राह्य है।

जैन श्रावकों के लिए मद्य, द्यूत, मांस, पांच प्रकार के उदुंबर (उदा० अंजीर), शहद, रात्रिभोजन तथा कुछ कंदमूल जिन पर कई अंकुर होते हैं, निषिद्ध हैं। पानी छान कर पीना भी श्रावकाचार में शामिल है। मद्य एवं द्यूत का कभी किसी धार्मिक आचार में समर्थन नहीं किया गया। प्राय: सभी सभ्यताओं में इन का निषेध ही किया गया है। इन के बारे में आधुनिक धर्मनिरपेक्ष समाजों में भी निषेधात्मक कानून बने हैं। यदि मद्य जैसे नशीले पदार्थों और द्यूत का त्याग व्रत के रूप में लिया गया तो वह अधिक परिणमी ढंग से कार्यान्वित होगा। उदुंबर फलों में परागण करने वाले कीट होते हैं यह वैज्ञानिक तथ्य है। यदि कोई स्वेच्छा से उदुंबर फलों और शहद का त्याग करे तो उस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। पानी छान कर पीना तो स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। आधुनिक तरीके अपना कर इस व्रत का पालन करना सभी के लिए हितकारक है। आधुनिक आयुर्विज्ञान का मानना है कि मांसाहार से शाकाहार श्रेष्ठ है। फिर भी अन्नपान के विधि-निषेध सामाजिक एवं प्रादेशिक विविधता पर निर्भर हैं। इस विषय में पूरे देश में सब का आचार एकरूप होने की संभावना वर्तमान में नहीं है। अत: धर्मनिरपेक्ष समाज में मांसाहार के पूर्ण निषेध का नियम अव्यवहार्य है। आशा है कि भविष्य में स्वेच्छा से अधिक से अधिक लोग शाकाहार की ओर झुकाव दिखायेंगे और तब मांसाहार की प्रथा लुप्त होगी।

दार्शनिक सिद्धांत एवं उन पर आधारित आचार नियम परिपूर्ण और अपरिवर्तनीय मानने के कारण जैन श्रावकाचार में भी कुछ तर्कहीन बातें रह गयी हैं।[२४] कोई सिद्धांत या नियम त्रिकालबाधित नहीं माना जाता। यदि किसी प्रस्थापित वैज्ञानिक सिद्धांत के विपरीत विश्वसनीय प्रमाण मिलता है तो उस सिद्धांत को नि:संकोच त्याग दिया जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में यही प्रमुख अंतर है। जैन दर्शन के सिद्धांत तत्त्वत: वैज्ञानिक हैं। उन पर आधारित आचार नियमों की समीचीनता एवं ग्राह्यता सार्वलौकिक है। नये ज्ञान तथा अनुभव के संदर्भ में कुछ अल्प परिवर्तन या विस्तार करने पर श्रावकाचार धर्मनिरपेक्ष आचार के रूप में निखरता है।[२५] वह विश्व के किसी धर्म के लिए आपत्तिजनक नहीं है। आस्तिक हों या नास्तिक सभी इसे बिना किसी अंतर्विरोध के स्वीकार कर सकते हैं। अतएव यथार्थ में यह धर्मनिरपेक्ष है।

सन्दर्भ :

१. सायणमाधव ने अपने **सर्वदर्शनसंग्रह** में चार्वाक मत का कठोर शब्दों में खंडन किया है। अद्वैत वेदांत का समर्थन करने के लिए १४वीं सदी में रचे गये इस ग्रंथ में जैन दर्शन सहित १६ विविध भारतीय दर्शनों की चर्चा है। जैन दर्शन के बारे में उनकी टिप्पणी आधुनिक शास्त्रार्थ नियम में अशोभनीय समझी जा सकती है। संदर्भ - **सर्वदर्शनसंग्रह**; भाष्यकार उमाशंकर शर्मा; वाराणसी १९६५ ई०। निष्पक्ष दृष्टि से लिखी गयी पुस्तक - **चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय मीमांसा**; ले० सर्वानंद पाठक; वाराणसी १९६५ ई०। मार्क्सवाद की पुष्टि एवं सभी आस्तिक दर्शनों का खंडन करने के लिए लिखी गयी पुस्तक - D. Chattopadhyaya, *Lokayata : A Study in Indian Materialism*, People's Publishing House, New Delhi 1973 A.D.

२. आज कल भारत में दलित समाज के लोग बड़ी संख्या में बौद्धधर्म को स्वीकार करने लगे हैं इनमें किसी हिन्दू दर्शन से बौद्ध दर्शन की श्रेष्ठता समझ कर धर्मांतरण करने वाले बहुत कम हैं। वे राजनीति से प्रेरित हो कर बौद्ध धर्म स्वीकार करते हैं।

३. चित्रों में तथा प्रतिमाओं में देवी देवताओं को खड्ग, त्रिशूल जैसे घातक आयुधों सहित दर्शाया जाता है। इस तरह पाप करने वालों को दंडित करने की क्षमता दिखायी जाती है।

४. ध्रियते लोकोऽनेनेति धर्म: अर्थात् जो व्यवस्था समाज में स्थैर्य लाती है वह धर्म है। यही धर्म शब्द की सही व्याख्या है। तथापि परंपरा से प्रस्थापित ईश्वरोपासना से समाज में सुख-शांति आती है ऐसा समझ कर सामान्य प्रयोग में धर्म शब्द का अर्थ 'कर्मकांड विधि' बना है।

५. "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:" (**तत्त्वार्थसूत्र**, अध्याय १, सूत्र १) यह जैन दर्शन का मार्गदर्शक सूत्र है। संदर्भ - वाचक उमास्वातिविरचित **तत्त्वार्थसूत्र**; विवेचक, सुखलाल संघवी; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी १९७६ ई०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. प्राणातिपातवितथ-व्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः। स्थूलेभ्यः पापेभ्यः व्युपरमणमणुव्रतं भवति।। आचार्य समंतभद्रकृत **रत्नकरंडश्रावकाचारः** ५२, हिंदी (ढुंढारी) टीकाकार - पं० सदासुखदासजी कासलीवाल; हिन्दी रूपांतरकार - मन्नूलाल जैन, श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर १९९६ ई०।

७. "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" **तत्त्वार्थसूत्र**, अध्याय ७, सूत्र ८; संदर्भ - टिप्पणी ५ में। और यह भी - संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्यचरसत्त्वान्। न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः।।

रत्नकरंडश्रावकाचार, श्लोक ५३ संदर्भ टिपणी संदर्भ ६ में।।

८. भारत में प्रचलित कानूनों का संग्रह - Menaka Gandhi, Ozair Husain & Raj Panjwani, *Animal Lawas of India*, Universal Law Publishing Co, Delhi 1996 A.D.

९. श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित: **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** मूल संस्कृत (कन्नड लिपि में), तथा कन्नड भावार्थ; ले० एर्तूरु शांतिराज शास्त्री; पं० ए० शांतिराज शास्त्री ट्रस्ट, बैंगलोर १९९७ ई०।

१०. संदर्भ टिप्पणी ९ में। निसर्ग में शाकाहारी तथा मांसाहारी जानवरों की संख्या का अनुपात नैसर्गिक नियमों से ही स्थिर रहता है। इस में मानव द्वारा हस्तक्षेप की जरूरत नहीं है।

११. स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।

यत्तद्वदंति संतः स्थूल मृषावादवैरमणम्।। **रत्नकरंडश्रावकाचार**, श्लो० ५५। संदर्भ टिप्पणी ६ में।

१२. **तत्त्वार्थसूत्र**, अध्याय ७, सूत्र १०; संदर्भ टिप्पणी ५ में।

१३. जो बहु-मुल्लं वत्युं अप्पय-मुल्लेण णेव गिण्हेदि।
वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि। **कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा**, ३३५. मूल प्राकृत (कन्नड लिपि में), कन्नड भावार्थ, ले०ए० शांतिराज शास्त्री; पं०ए० शांतिराज शास्त्री ट्रस्ट बैंगलोर १९९७ ई०।

१४. भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसन प्रभृतिः पंचेंद्रियो विषयः।। **रत्नकरंडश्रावकाचार**, श्लो० ८३; संदर्भ टिप्पणी ६ में। आधुनिक अर्थशास्त्रीय शब्दावली में भोग वस्तुएं consumables तथा उपभोग वस्तुएं consumer durables हैं।

१५. दुर्भिक्ष अर्थात् सूखा, अकाल, बाढ़ आदि विपत्तिकाल में अधिक फायदा कमाने के लिए अन्न धान्य जैसी भोग वस्तुओं का संग्रह करना पाप है। यह अति संग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं के लिए नहीं अपितु व्यापार में मुनाफा कमाने के लिए किया जाता है। अत: यह अस्तेय व्रत का अतिचार है, अपरिग्रह व्रत का नहीं।

१६. अपरिग्रह व्रत के अतिचार का वर्णन करने वाला श्लोक इस कथन की पुष्टि करता है - अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि। परिमितपरिग्रहस्य, विक्षेपा: पंच लक्ष्यन्ते। **रत्नकरंडश्रावकाचार**, श्लो० ६२, संदर्भ टिप्पणी ६ में।

१७. यह व्यवस्था तर्कशुद्ध लगती है। पांच अणुव्रत पापकर्मों से विरति के रूप में निर्दिष्ट हैं। सल्लेखना कुछ भिन्न प्रकार का व्रत है। जीवन कोई पापकर्म नहीं; अत: स्वेच्छा से जीवन का समापन पापविरति नहीं है। स्वेच्छा से अपनाया नियम - व्रत शब्द के इस अर्थ में सल्लेखना व्रत है।

१८. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च नि:प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहु: सल्लेखना-माचार्या:।। **रत्नकरंडश्रावकाचार**, श्लो० १२२; संदर्भ टिप्पणी ६ में।

१९. Ram Bhushan Prasad Singh, *Jainism in Early Mediaeval Karnataka,* Motilal Banarsidass, Delhi 1975 A.D., pp. 61-69.

२०. इस विषय में उदासीनता के दो प्रमुख कारण हैं। असहनीय दर्द के कारण प्राणत्याग करने का निर्धार क्षणिक है और जीने की इच्छा ही सामान्य रूप से प्रबल होती है। अत: असहायता की स्थिति में किया हुआ निर्धार प्रामाणिक मान कर किसी के जीवन का अंत करना पाप है। इस चिंता का निवारण हो सकता है। यदि कोई युवावस्था में तथा अच्छे स्वास्थ्य की हालत में अपने निर्धार का पंजीकरण करे और एक-दो साल के बाद पुन: उसका दृढ़ीकरण करे तो उसे सोच समझ कर किया हुआ निर्धार मानने में कोई दोष नहीं। ऐसी स्थिति में उस की प्रामाणिक इच्छा का सम्मान करना ही समाज तथा शासन का कर्तव्य है। दूसरा कारण यह है कि इस कानूनी छूट का दुरुपयोग हो सकता है। परंतु यह दलील भी ठीक नहीं। यथायोग्य कानूनी प्रावधान करने पर दुरुपयोग नहीं होगा। सामाजिक जागरूकता बढ़ाने से भी कानून का दुरुपयोग नहीं होगा।

२१. R. Williams, *Jaina Yoga : A Survey of the Mediaeval Śrāvakacāras,* Motilal Banarsidass, Delhi 1983 A.D., p 216.

२२. Lawrence A. Babb, *Ascetics and Kings in a Jaina Ritual Culture,* Motilal Banarsidass, Delhi 1998 A.D.

२३. वैदिक परंपरा में ईश्वर को समर्पित खाद्य पदार्थ प्रसाद के रूप में भक्त लोग सेवन करते हैं। प्रसाद न लेना ईश्वर का अपमान माना जाता है। सत्यनाराणव्रतकथा में कहा गया है कि पूजा करने के पश्चात् जल्दबाजी में प्रसाद लेना भूल कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पतिदर्शन के लिए कलावती नाम की स्त्री चली गयी। इस से क्रुद्ध हो कर भगवान् सत्यनारायण ने उस के पति को अदृश्य कर दिया। फिर प्रसाद खा कर ही उसे पतिदर्शन हुए। संदर्भ - **स्कन्दपुराण**, रेवाखण्ड, सत्यनारायणव्रतकथा, अध्याय ४।

२४. कम प्रकाशमें भोजन करने से अन्न में कृमि-कीट गिर सकते हैं। इस प्रकार असावधानी से जीवहिंसा होने की संभावना है। इसीलिए श्रावकाचार में रात्रिभोजन निषिद्ध माना गया। यदि पर्याप्त प्रकाश की सुविधा हो तो रात्रिभोजन में कोई दोष नहीं है। कुछ कन्द-मूलों का निषेध भी तर्क संगत नहीं लगता। अनाज के प्रत्येक दाने से एक पौधा उग सकता है। अत: हर व्यक्ति भोजन के संदर्भ में कई पौधों को मजबूरन मारता ही है। इसकी तुलना में कन्द मूल खाने से कोई अधिक हिंसा नहीं होती। वस्तुत: कोई जीवों को मारने के उद्देश्य से भोजन नहीं करता। अर्थात् इस में चित्तवृत्ति का प्रमाद नहीं है। अत: श्रावक के लिए कंद-मूल खाने का निषेध तर्कसंगत नहीं लगता। फिर भी ऐसी निषिद्ध वस्तुएं खाते समय यदि मन में हिंसा का भाव आता हो तो उन्हें त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इस संदर्भ में **बृहस्पतिस्मृति** का यह श्लोक मार्गदर्शक है। "केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णय:। युक्तिहीनविचारे तु धर्महानि: प्रजायते।" शास्त्रों पर युक्तिसंगत विचार करना तथा बदलते समय के अनुसार आचार में यथायोग्य परिवर्तन करना पाप नहीं है।

२५. सामाजिक विकास के साथ-साथ नयी दुष्प्रवृत्तियों का उदय होता है। कई अतिचार शासनाधीन कानून की कमजोरियों के कारण होते हैं। समाज के विकास के साथ कुछ अचिंतित पापवृत्तियों के नये अवसर पैदा होते हैं। ऐसी स्थिति में परंपरागत आचार नियमों का विस्तार करना आवश्यक होता है। आचार्य श्री तुलसीजी का पूरे जैन समुदाय में ही नहीं, अन्य धार्मिक समाजों में भी बड़े आदर का स्थान है। उन्होंने आधुनिक समाज की स्थिति देख कर कुछ नये श्रावक व्रतों का समर्थन किया है। इन में प्रमुख हैं- पर्यावरण प्रदूषण न करना, व्यवसाय के क्षेत्र में पूर्ण ईमानदारी बरतना तथा चुनाव के संदर्भ में गैरकानूनी मार्ग न अपनाना। इन के कृत, कारित एवं अनुमत अतिचार रुकने से पूरे समाज का हित होगा। श्रावकाचार के इस विस्तार से जैन दर्शन की प्रासंगिकता बढ़ती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खरतरगच्छ-भावहर्षीय शाखा का इतिहास

शिव प्रसाद*

निर्ग्रन्थ परम्परा के अल्पचेल (श्वेताम्बर) आम्नाय में चन्द्रकुल से उद्भूत खरतरगच्छ में समय-समय पर अस्तित्त्व में आयी विभिन्न शाखाओं में भावहर्षीय शाखा भी एक है। यह शाखा विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में अस्तित्त्व में आयी। प्राप्त विवरणानुसार खरतरगच्छ की सागरचन्द्रसूरिशाखा के मुनि साधुतिलक के प्रशिष्य और कुलतिलक के प्रशिष्य उपाध्याय भावहर्ष द्वारा वि०सं० १६१६ में खरतरगच्छ में सातवां शाखा भेद हुआ जो इसके प्रवर्तक भावहर्ष के नाम पर भावहर्षीय शाखा के नाम से जाना गया। इस शाखा के चौदहवें और अंतिम पट्टधर जिनलब्धिसूरिका विक्रम सम्वत् की २०वीं शती के अंतिम चरण में देहान्त हुआ। इस प्रकार लगभग ३५० वर्षों तक इस शाखा का अस्तित्त्व रहा। इस शाखा से सम्बद्ध यद्यपि तीन अभिलेखीय साक्ष्य मिलते हैं किन्तु ये एक ही तिथि/मिति - वि०सं० १९१० माघ सुदि ५ गुरुवार के हैं। साम्प्रत निबन्ध उक्त सीमित साक्ष्यों के आधार पर इस शाखा के इतिहास पर प्रकाश डालने का एक प्रयास है।

शाखाप्रवर्तक भावहर्षसूरि द्वारा रचित **साधुवंदना** नामक एक छोटी कृति प्राप्त होती है।[१] वि०सं० १६२६ में रचित इस कृति में उन्होंने यद्यपि अपने गुरु आदि का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी भावहर्षीय शाखा से सम्बद्ध सर्वप्राचीन साक्ष्य होने से यह महत्त्वपूर्ण है। भावहर्ष द्वारा रचित विभिन्न स्तवनादि की सूचना नाहटाद्वय द्वारा प्राप्त होती है। अज्ञातकृतक **भावहर्षसूरिचरितम्** नामक एक लघुकृति से ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम कुलतिलक और प्रगुरु का नाम साधुतिलक था जो खरतरगच्छ की सागरचन्द्रसूरि शाखा से सम्बद्ध थे।[२] भावहर्षसूरि के एक शिष्य रंगसार[३] द्वारा रचित चार कृतियां मिलती हैं -

१. **शांतिनाथरास** (वि०सं० १६२०), २. **जिनपालजिनरक्षितचौढालिया** (वि०सं० १६२१), ३. **ऋषिदत्तासतीचौपाई** (वि०सं० १९२६), ४. **गिरनार-चैत्यपरिपाटी**

ऋषिदत्तासतीचौपाई[४] तथा अपनी अन्य कृतियों की प्रशस्तियों में रचनाकार ने अपनी लम्बी गुर्वावली न देते हुए मात्र अपने गुरु भावहर्षसूरि का ही सादर उल्लेख किया है।

* *प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी शाखा के उदयराज नामक श्रावक द्वारा वि०सं० १६६६ में रचित **भजनसवैया**[५] और वि०सं० १६७६ में **रचित गुणबावनी**[६] ये दो कृतियां मिलती हैं। **गुणबावनी**[७] की प्रशस्ति में उन्होंने स्वयं को भावहर्षसूरि का प्रशिष्य और भद्रसार का शिष्य बतलाया है :

खरोनाम गुरराज, खरो मत अेक खरतर,
खरो धर्म्म निरारंभ, खरइ आचार रहीजैं,
खरी जोग साधना, खरउ कहीयउ सहु किज्जइ,
सद्गुरू भावहरष ची, आंण दांण सिर परि धरइ,
जांजाल अवर उदयराज कहि, श्रीभद्रसार समरण करइ। ॥५४॥

अचल समुद्र ध्रू अचल, अचल महि मेरु समग्गल,
अचल सूर शशि अचल, अचल कूरम पृथवीतल,
अचल दीह नइं राति, अचल दगपाल दशे ही,
अचल गयण आकाश, अचल धन मोर सनेही,
गिर आठ अचल ब्रह्मा विशन, इस अचल जां लगि इला,
उदैराज अचल तां बावनी, गुण प्रकाश चढती कला। ॥५५॥

रस मुनि वर सिस (शशि) समइ, करी बावन्न पूरी,
वइसाखी पूर्णिमा वशंत रिति वाइ सजूरी,
बबेरइ आवीया काज रतनइ रिण मोडइ,
लांखाणी लोडीये तथि थंभाया घोडइ,
उदइराज तेपि गुणबावन्नी संपूरण कीधी
चाहवाण रांण नृप शोवन्नगिरि, वसा, वाशि जगनाथरइ। ॥५६॥

विद्याविलासचौपाई (रचनाकाल वि०सं० १६६२) के रचनाकार आनन्दउदय ने अपनी उक्त कृति की प्रशस्ति में अपने गुरु के रूप में जिनतिलक का उल्लेख किया है।[८]

चंपकचरित्र के कर्ता जिनोदयसूरि ने अपनी रचना की प्रशस्ति[९] में भावहर्षसूरि को अपना पूर्वज बतलाते हुए अपने गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है :

भावहर्षसूरि
|
जिनतिलक
|
जयतिलक
|
जिनोदयसूरि (वि०सं० १६६९ में **चंपकचरित्र** के रचनाकार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनोदयसूरि द्वारा रची गयी **कयवन्नाचौढालिया**[१०] और **हंसराजवच्छराज-रास**[११] (रचनाकाल वि०सं० १६८०) ये दो अन्य कृतियां भी प्राप्त होती हैं। अगरचन्दजी नाहटा[१२] ने **कयवन्नाचौढालिया** का रचनाकाल वि०सं० १६६२ बतलाया है।

भावहर्षीयशाखा के ही मुनि रत्नसुन्दर के शिष्य मेघनिधान ने भी वि०सं० १६८८ में स्वरचित **क्षुल्लककुमारचौपाई**[१३] की प्रशस्ति में स्वयं को जिनतिलक का ही प्रशिष्य बतलाया है।

वि०सं०१६७८ में रचित **पवनाभ्यासचौपाई** के प्रारम्भ में रचनाकार आनन्दवर्धनसूरि ने स्वयं को धनवर्धनसूरि का शिष्य बतलाया है।[१४] इन्होंने अपने प्रगुरु आदि के बारे में कोई सूचना नहीं दी है, अत: इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं हो पाती। महो० विनयसागर जी ने इन्हें भावहर्षीयशाखा से सम्बद्ध बतलाया है,[१५] परन्तु अपने मत के समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है, अत: इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

उक्त सीमित साक्ष्यों के आधार पर भावहर्षीय शाखा के मुनिजनों के गुरु-शिष्य परम्परा की एक छोटी तालिका संगठित की जा सकती है, जो निम्नानुसार है :

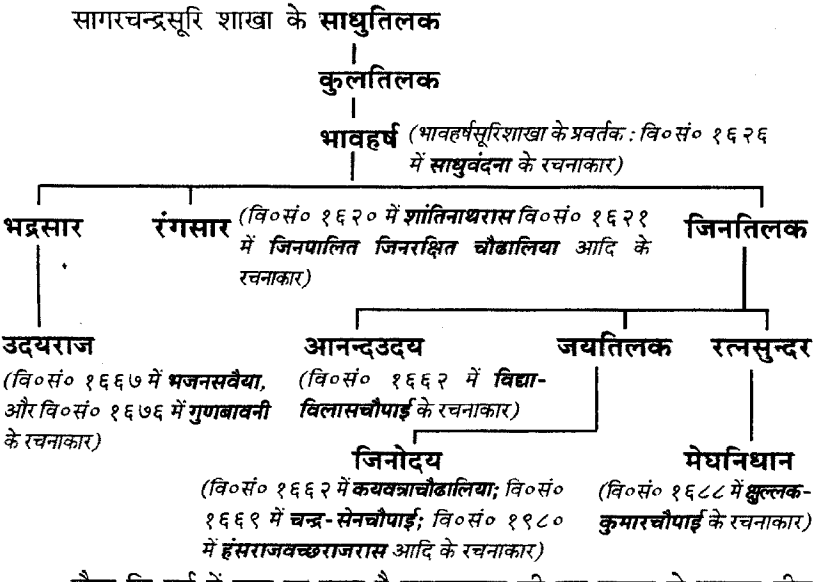

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है खरतरगच्छ की इस शाखा से सम्बद्ध तीन अभिलेखीय साक्ष्य मिले हैं और वे एक ही तिथि/वार और सम्वत् के हैं। ये लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाकोड़ा तीर्थ स्थित शांतिनाथ जिनालय की तीन जिनप्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं।[१६] महोपाध्याय विनयसागरजी ने इनकी वाचना दी है, जो निम्नानुसार है :

१-(१)।। सं।। १९१० रा शाके १७७५ रा प्रवर्तमाने माशोत्तम मासे माघमाशे धवलपक्षे ५ तिथौ गुरुवासरे महाराजाधिराज महाराजाजी **श्रीतखतसिंहजी**

(२) कु । **श्रीजसवंतसिंघजी** विजयराज्ये **श्रीपालिनगरे** समस्त श्रीसंघ महामहोच्छवेनांजनसिलाका कृतं ।। **जोधनयरे** वास्तव श्रीओसवंशे मुं । श्री अ -

(३) खेचन्दजी तत्पुत्र मुं ।। श्रीलक्ष्मीचन्दजी तत्पुत्र मुं ।। श्री ।। मुकनचंदजी धर्मानुरागेन महोछव कारापितं **श्रीमहेवापडगने श्रीवीरमपुरनगर** मध्ये संखवालेचा

(४) मालासा० कारापित श्रीजिनालये श्रीशान्तिनाथबिम्बं प्रतिष्ठितं जगद्गुरुविरुदधारक **खरतरभावहर्षगच्छेश** । भ । **श्रीजिनक्षिमासूरिपट्टे** भ । **श्रीजि-**

(५) **नपद्मसूरिभिः** प्रतिष्ठितं सकल श्रेयोर्थम् ।।

मूलनायक शांतिनाथ की पाषाण की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख[१७]

२- सं० १९१० रा शाके १७७५ रा प्रवर्तमाने मासोत्तममासे माघमाशे धवलपक्षे ५ तिथौ गुरुवासरे माहाराजाधिराज माहाराजाजी **श्रीतखतसिंहजी**। कु । **श्रीजसवंतसिंघजी** विजयराज्ये श्रीपालिनगरे समस्त श्रीसंघ महामहोच्छवेनांजनसिलाका कृतं मुं ।। श्रीमुकनचंदजी धर्मानुरागेन महोच्छव कारापितं **श्रीमहेवापडगने** श्रीवीरमपुरनगरमध्ये संखवालेचा **मालासा कारापित** श्रीजिनालये श्रीसुपार्श्वनाथ बिंब प्रतिष्ठितं----भ० **श्रीजिनपद्मसूरिभिः**------।

सुपार्श्वनाथ की पाषाण की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख[१८]

३- सं० १९१० शाके १७७५ प्र० माशोत्तममाशे शुक्लपक्षे ५ तिथौ गुरुवारे **श्रीपालीनगरे** अंजनशलाका कृतं। समस्तसंघ संयुतेन स्वश्रेयसे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्रबिम्बं कारितं। प्रतिष्ठितं। भ। **श्रीजिनपद्मसूरिभिः खरतरश्रीभावहर्षगच्छे**। श्रीमद्वीरमपुरनगरे जिनालय स्थापितं।।

चन्द्रप्रभ की पाषाण की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख[१९]

जिनोदयसूरि के पश्चात् और अंतिम पट्टधर जिनलब्धिसूरि के पूर्व इस शाखा में कौन-कौन से पट्टधर आचार्य हुए? उनका पट्टक्रम क्या था? इस बारे में ग्रन्थ प्रशस्तियों आदि से कोई जानकारी नहीं मिलती, साथ ही इस शाखा की कोई पट्टावली भी प्रकाशित नहीं है जिससे हमें इस सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त हो सके। सद्भाग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अगरचन्दजी भंवरलाल जी नाहटा[२०] ने इस शाखा के मुनिजनों के पट्टक्रम की एक तालिका दी है। यद्यपि उन्होंने अपने विवरण में यह नहीं बताया है कि उनकी इस सूचना का आधार क्या है फिर भी इस क्षेत्र के अत्यन्त प्रामाणिक विद्वानों द्वारा दी गयी उक्त महत्त्वपूर्ण सूचना को स्वीकार करने में हमें कोई बाधा नहीं दिखाई देती है। उनके द्वारा दिया गया पट्टक्रम इस प्रकार है :

भावहर्षसूरि
|
जिनतिलकसूरि
|
जिनोदयसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'प्रथम'
|
जिनसमुद्रसूरि
|
जिनरत्नसूरि
|
जिनप्रमोदसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय'
|
जिनसुखसूरि
|
जिनक्षमासूरि
|
जिनपद्मसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'तृतीय'
|
जिनफतेन्द्रसूरि
|
जिनलब्धिसूरि (२०वीं शताब्दी के अंतिम चरण में दिवंगत)

उक्त तालिका में से भावहर्षसूरि, जिनतिलकसूरि और जिनोदयसूरि के नाम और उनका पट्टक्रम साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर ऊपर हम देख चुकें हैं। इसी प्रकार जिनक्षमासूरि और जिनपद्मसूरि का नाम वि०सं० १९१० के प्रतिमालेखों में ऊपर आ चुका है। इस प्रकार नाहटा जी द्वारा प्रस्तुत उक्त पट्टक्रम को जो नवीन स्वरूप प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागरचन्द्रसूरि शाखा के साधुतिलक

कुलतिलक

भावहर्षसूरि *(भावहर्षीयशाखा के प्रवर्तक; वि०सं० १६२६ में **साधुवंदना** के रचनाकार)*

भद्रसार (मुनि) — रंगसार *(वि०सं० १६२० में **शांतिनाथरास**; वि०सं० १६२१ में **जिनपालित जिनरक्षितरास** आदि के रचनाकार)* — जिनतिलकसूरि

उदयराज (श्रावक) *(वि०सं० १६६७ में **भजनसवैया** और वि०सं० १६७६ में **गुणबावनी** के रचनाकार)*

आनन्दउदय *(वि०सं० १६६२ में **विद्याविलासचौपाई** के रचनाकार)*

जिनतिलक

जिनोदयसूरि *(वि०सं० १६६२ में **कयवन्नाचौढालिया**; वि०सं० १६६९ में **चन्द्रसेनचौपाई**; वि०सं० १९८० में **हंसराजवच्छाजरास** आदि के रचनाकार)*

रत्नसुन्दर

मेघनिधान *(वि०सं० १६८८ में **क्षुल्लककुमारचौपाई** के कर्ता)*

जिनचन्द्रसूरि

जिनसमुद्रसूरि

जिनरत्नसूरि

जिनप्रमोदसूरि

जिनचन्द्रसूरि

जिनसुखसूरि

जिनक्षमासूरि

जिनपद्मसूरि *(वि०सं० १९१०) ३ प्रतिमा लेख*

जिनचन्द्रसूरि

जिनफतेन्द्रसूरि *नाकोड़ातीर्थ की व्यवस्था इनके पास थी और इन्हीं ने वि० सं० १९६५ में उसे स्थानीय जैन समाज को सुपुर्द किया।*

जिनलब्धिसूरि *(बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में दिवंगत)*

महो० विनयसागर जी की सूचनानुसार अब से ३५ वर्ष पूर्व तक इस शाखा के कुछ यति विद्यमान थे,[२१] पर अब वे भी न रहे और श्वेताम्बर परम्परा के विभिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लुप्त गच्छों या उसकी शाखाओं की भांति इस शाखा का भी अस्तित्त्व केवल इतिहास के पृष्ठों तक ही सीमित है।

सन्दर्भ :

१. महोपाध्याय विनयसागर, "खरतरगच्छीय साहित्यसूची", **मणिधारी जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ,** (संपा० अगरचंद नाहटा एवं भँवरलाल नाहटा) दिल्ली १९७१ ई०, भाग २, पृष्ठ ५८.

२. अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहटा, संपा० **ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह**, श्री अभय जैन ग्रन्थमाला, पुष्प ८, कलकत्ता वि०सं० १९९४, पृष्ठ ८२, १३५-३६.

शितिकंठ मिश्र - **हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, भाग २**, वाराणसी १९९४ ई०, पृष्ठ ६११.

३-४. मोहनलाल दलीचंद देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, नवीन संस्करण, भाग २, संपा० - डा० जयन्त कोठारी, अहमदाबाद १९८७ ई०, पृष्ठ १५३-५४.

५. **मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृतिग्रन्थ**, भाग २, "खरतरगच्छ-साहित्यसूची", पृष्ठ ६६.

६-७. देसाई, पूर्वोक्त, नवीन संस्करण, भाग ३, पृष्ठ १९६.

८. वही, भाग ३, पृष्ठ १८.

९. वही, भाग ३, पृष्ठ १४८-४९.

१०. **खरतरगच्छीयसाहित्यसूची**, पृष्ठ ४३.

११. Vidhatri Vora - Ed. **Catalogue of Gujarati Mss. Muniraj Shree PunyaVijayaJis Collection,** L.D. Series No. 71, Ahmedabad 1978, P. 553-54.

१२. **खरतरगच्छीयसाहित्यसूची**, पृष्ठ ४३.

१३. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ३, पृष्ठ २१९.

१४. वही, भाग २, पृष्ठ ४२.

१५. **खरतरगच्छीयसाहित्यसूची**, पृष्ठ ५१.

१६. महोपाध्याय विनयसागर, **नाकोडा तीर्थ श्री पार्श्वनाथ**, कुशल पुष्प-१, कुशल संस्थान, जयपुर १९८८ ई०, पृष्ठ १२८.

१७-१९. वही, लेखांक ११०, १११, ११२.

२०. **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह,** पृष्ठ ८२-८३

२१. विनयसागर जी से प्राप्त व्यक्तिगत सूचना पर आधारित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनों और सिखों के ऐतिहासिक संबंध

महेन्द्र कुमार मस्त*

इतिहास के पृष्ठों में अनेकों अन-उद्घाटित घटनाएँ और बंद पड़े हुए विवरण यदा-कदा मिलते रहते हैं। उन को उद्देश्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया जाना इतिहास के हर विद्यार्थी और भावी पीढ़ियों के लिए एक चुनौतिपूर्ण जरूरत है।

प्राय: सभी जानते हैं कि २५०० वर्ष, तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं की मुख्य परिधि को तोड़ कर, बौद्ध धर्म और जैन धर्म जिन सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों में पनपे व फैले, प्राय: वैसी ही मिलती-जुलती स्थितियों से सिख धर्म को भी लाँधना पड़ा था। जाति-पाँति की कृत्रिम सीमाओं को जिस प्रकार महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर ने अस्वीकार किया था, ठीक उसी तरह ही सिख गुरुओं के भक्तों और श्रद्धालुओं में भी ऊँच-नीच, सुवर्ण-दलित और हिंदू-मुस्लिम सभी जातियों के लोग समान रूप से शामिल थे।

सिख धार्मिक ग्रन्थ - **सुखमणी साहिब** की तीसरी अष्टपदी में - "जैन मारग संजम अति साधन" का उल्लेख मिलता है, वहीं अनेक जैन धर्मावलम्बी भी महान सिख गुरुओं के समर्पित भक्त और विनम्र श्रद्धालु रहे हैं। दसवें गुरु गोविंद सिंह जी का तो जन्म ही पटना के एक संभ्रान्त जैन, सालस राय जौहरी की हवेली में हुआ था। यही हवेली अब तख्त श्री हरमन्दिर साहेब, पटना के सौम्य, व्यापक और प्रभावक रूप में, सिख धर्म के दसवें गुरु, खालसा पंथ के प्रवर्तक श्री गोविंद सिंह जी की जन्म भूमि होने से संसार भर के सिखों के लिए महान तीर्थ बनी हुई है।

गुरु गोविंद सिंह जी का जन्म पटना में सालस राय जौहरी की इसी हवेली में पौष शुदि सप्तमी, वि०सं० १७२३ (२२ दिसम्बर, १६६६ ई०) को हुआ। गुरु गोविंद सिंह के पिता, नवम गुरु श्री तेग बहादुर, धर्म प्रचार के लिए प्रयाग, वाराणसी और मोक्षधाम गया की यात्रा करते हुए १६६६ ई० में पटना साहिब आए थे। उनके साथ गुरु जी की माता 'नानकी जी', धर्मपत्नी गुजरी बाई, उनके भाई कृपाल चन्द और कई दरबारी सिख भी थे। इन सभी को अपने परम भक्त व श्रद्धालु सालस राय जौहरी की हवेली में छोड़ कर वे खुद बंगाल और आसाम चले गए थे। मुंगेर पहुँच कर पटना की संगत के नाम एक सन्देश (हुक्मनामा) जारी किया और परिवार को इसी हवेली में रखने का आशीर्वाद दिया। इसी हुक्मनामा में पटना को "गुरु का घर" कहा गया।

* *२६३, सेक्टर - १०, पंचकूला, (हरियाणा) - १३४१०९*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंगाल में ढाका पहुँचने पर गुरु जी को सूचना मिली कि पटना में गोविंद राय जी का जन्म हुआ है। किंतु वे तुरन्त पटना वापस न पहुँच कर पंजाब आ गए थे। जब तक वे पुन: पटना वापस आए और पहली बार अपने होनहार व प्रिय सुपुत्र को देखा, तब तक गोविंद राय जी चार साल के हो चुके थे। गुरु गोविंद सिंह जी ने अपने बचपन के करीब सात वर्ष पटना में सालस राय की इसी हवेली में गुज़ारे।

यह सालस राय जौहरी, एक धनाढ्य ओसवाल जैन था। गंगा नदी के रास्ते से नौकाओं द्वारा व्यापार का मुख्य केन्द्र होने से जैन जौहरियों के कई परिवार पटना में हीरे-मोतियों का व्यापार करते थे। जन्म स्थान गुरुद्वारा के पास ही जौहरियों की एक पूरी गली थी। सालस राय जौहरी के वंशज इस समय पटना के ही एक उपनगर (कालोनी) में रह रहे हैं।

जिस हवेली के प्राँगण में दशम गुरु श्री गोविन्द सिंह का जन्म हुआ था, उस का आधा भाग सालस राय ने गुरु जी को ही भेंट कर दिया। गुरुद्वारा जन्म स्थान इसी जगह पर है। हवेली के बाकी आधे भाग में जैन श्वेताम्बर मन्दिर है। दोनों की एक ही साझी दीवार है तथा एक ही बड़े व ऊँचे मुख्य गेट के आधे-आधे भाग के रास्ते से होकर गुरुद्वारा व जैन मंदिर को जाया जाता है।

पंजाब के भामाशाह-दीवान टोडरमल जैन

सामाना (जिला पटियाला) के जैन ओसवाल गादीया दो सगे भाइयों की गौरव गाथाएँ स्मृति पटल से धीरे-धीरे ओझल होती जा रही हैं। इन में एक का नाम था दीवान टोडरमल और दूसरे का सखीदास। अपनी बुद्धि, कौशल और ज़मीनी मामलों का सुज्ञ जानकार होने से टोडरमल को सरहिंद के नवाब ने अपने दरबार में बुला लिया और "दीवान" (आज के मिनिस्टर आफ स्टेट से मिलती जुलती) पदवी भी इन्हें दी। १५ जून, १९८२ ई० के दैनिक अखबारों में छपी एक रिपोर्ट के अनुसार "सामाना में टोडरमल की सराय थी और दीवान टोडरमल द्वारा बनवाए जाने के पत्थर (शिलालेख) भी कुछ कुओं में लगे हुए थे।" इसी रिपोर्ट में उल्लेख है कि - "मशहूर दानवीर सखीदास, जिसकी सखावत (दानवीरता) के किस्से इलाके भर में प्रसिद्ध हैं, सामाना के ही थे। वे ओसवाल जैन थे। यहां के नवाब घरानों में सखीदास की बहुत इज्ज़त थी। अनेक गरीब लड़कियों की शादी इनकी मदद से हुई। स्थानीय विवाहों आदि में महिलाओं द्वारा सखीदास का रास गाया जाना यहां प्रचलित था"।

१३ पौष, १७६२ विक्रमी (२७ दिसंबर, १७०४) के दिन सरहिंद के नवाब वज़ीर खान के आदेश से दसवें गुरु श्री गोविंद सिंह जी के छोटे और सुकोमल दोनों साहिबज़ादे (सुपुत्र) अत्यंत क्रूरता और पशुतापूर्ण तरीके से मौत की नींद सुला दिये गए। साहिबज़ादों की दादी माता गुजरी जी को यह समाचार दीवान टोडरमल ने खुद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी सेवा में हाज़िर होकर दिया। दादी माँ यह सहन न कर सका और विलाप करते हुए उसी समय अपना शरीर छोड़ दिया।

उधर, दशम गुरु के दोनों सुपुत्रों और माता जी के मृत शरीर दो दिन से सरहिंद में पड़े हुए थे। किसी का हौसला न था कि नवाब से जाकर इन को माँग सके। अंत में दीवान टोडरमल ने विनती की कि "बादशाह सलामत, ये तीनों मृतक शरीर मुझे देने की कृपा करें ताकि मैं रीति के मुताबिक इनका संस्कार कर सकूँ"। नवाब ने कहा कि हम एक शर्त पर ही दे सकते हैं कि संस्कार के लिए जितनी जगह चाहिये उतने स्थान में सोने के सिक्के बिछाकर, आप उसकी कीमत अदा करें।

दीवान टोडरमल के लिए स्वर्ण मोहरों की कीमत इन लालों से ज्यादा कीमती नहीं थी। उसने शर्त मान ली और सोने की अशर्फियों के बदले भूमि लेकर बहुत श्रद्धा के साथ दोनों साहिबज़ादों और माता जी का अंतिम संस्कार किया।

सरहिंद में टोडरमल की हवेली और वहां की चन्नी रोड पर टोडर माजरा गाँव इस लुप्त होते इतिहास के अवशेष हैं। तथा गुरुद्वारा ज्योति स्वरूप (सरहिंद) के विशाल कक्ष में "दीवान टोडरमल जैन हॉल" का बोर्ड पढ़ कर प्रत्येक जैन का सिर श्रद्धा से झुक जाता है।

जैनों ने कराया गुरुद्वारा का निर्माण

सन् १९४४ के अंत में पटियाला के नाज़िम साहब (डिप्टी कमिश्नर) महाराजा का यह आदेश लेकर सामाना में आए कि अपना बलिदान देने हेतु दिल्ली जाते हुए सिखों के नवें गुरु तेग बहादुर जी जिस स्थान पर थोड़ा समय रुके थे, वहां पर "थड़ा साहिब" गुरुद्वारा का कमरा (कोठा) बनवाया जाए। सामाना की "प्रेम सभा" और "जैन पुजेरा पंचायत" को यह कार्य सुपुर्द हुआ। नगर के तत्कालीन प्रतिष्ठित व्यक्ति - सागरचंद जैन, नाज़रचंद जैन, साधुराम जैन, मदनलाल बंसल, भगत नौराता राम, भगत मदनलाल, भगत मोहनलाल, जगमिंदरलाल जैन, शीतलदास जैन आदि इस काम में जुट गए। कार्य सम्पन्न होने पर तीन दिन तक, लगातार, गुरुद्वारा के नये कमरे में शब्द कीर्तन होता रहा। पूरे सामाना शहर में एक भी केशधारी सिख नहीं था। अत: नाज़रचंद जैन खुद अमृतसर गए और सरदार ईशर सिंह मझैल तथा शिरोमणि कमेटी की एक महिला सदस्य को एक दिन के लिए अपने साथ लेकर आए। सभी ने मिलकर गुरुद्वारा के नए कमरे में श्री ग्रंथ साहिब का प्रकाश किया। उस दिन पटियाला रियासत के महाराजा साहिब भी वहां पधारे थे। शहर के जैनों का और प्रेम सभा का उन्होंने आभार माना और प्रशंसा की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Landmarks of Bāhubalī Images in Karnataka

Dr. Maruti Nandan Tiwari*

Bāhubalī,[1] also known as Gommaṭeśvara in the southern Jaina tradition, was the second son of Jina Ṛṣabhanātha, born of his junior queen Sunandā. His step brother Bharata, who became *cakravartī* succeeding his father, ruled from Vinītā [Sāketa or Ayodhyā]; while Bāhubalī was ruling from Takṣaśilā (or Podanasa or Podanapura according to the Digambara Jaina tradition). Soon after the renunciation by Ṛṣabhanātha, Bharata began to subdue the various kingdoms and principalities (of Bhāratavarṣa) and, according to the Law of the Disc-weapon *(cakra),* had the need even to subdue Bāhubalī and his other 98 brothers. Except Bāhubalī, all his brothers surrendered their domains and became recluse. A fierce duel took place between Bharata and Bāhubalī for trial of strength in which Bāhubalī emerged almost as victor. At the final moment of his triumph, the reality of the futility of worldly possessions dawned in Bāhubalī's mind and he consequently renounced the world for attaining omniscience and hence salvation from the cycle of existences. As an ascetic he performed very rigorous austerities by standing in the *kāyotsarga* posture for a whole year and attained *kevalajñāna.*

To suggest his rigorous *tapas,* Bāhubalī in visual representations is shown not only in the *kāyotsarga-mudrā* but also with creepers entwining his limbs, and snakes, lizards, and scorpions either shown nearby or even creeping over his body.[2] These representational characteristics suggest the long passage of time in which he was absorbed in *tapas* and deep trance. The posture of Bāhubalī is symbolic of perfect self- control while his nudity implies total renunciation. The profound austerities of Bāhubalī inspired both the Śvetāmbara and the Digambara Jainas to worship him, specifically the Digambaras. Bāhubalī, as a result, became a powerful symbol as well as a material

**Professor, Deptt. History of Art, Banaras Hindu University, Varanasi*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

image evocative of the ethos of self-sacrifice and *ahiṁsā* preached by the Jinas.[3] It is further believed that Bāhubalī perhaps was the first to have propounded no-war policy by preferring duel to battle between the armies to avert violence and killing of war.[4] The entwining creepers and the figures of scorpions, lizards and snakes on the body of Bāhubalī perhaps also symbolise the intimate relationship between man and nature and their rhythmic coexistence. The Bāhubalī images are suggestive also of the elevation of a Man *(Kevalin)* to the point of becoming an object of worship.

The earliest reference to the fight between Bharata and Bāhubalī is noticed in the *Paumacariya* of Vimala Sūri (AD. 473), the *Vasudevahiṇḍī* and the *Āvaśyaka-niryukti* (c. early sixth century A.D.).[5] The *Paumacariya*, although alluding to the renunciation of Bāhubalī and his attainment of *kevala-jñāna*, does not mention the details concerning creepers, reptiles etc. that crept on his body.[6] The detailed account of the *tapas* of Bāhubalī is narrated in the literary works of the southern Jainism, from seventh century A.D. onwards, namely the *Padmapurāṇa* of *Raviṣeṇa* (A.D. 676), the *Harivaṁśa purāṇa* of Jinasena of *Punnāṭa-sangha* (A.D. 783), the *Ādipurāṇa (Mahāpurāṇa)* of Jinasena of Pñcastūpānvaya (after A.D. 837), and also the northern works such as the *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacaritra* of Hemacandra (c.mid 12th century A.D.) and the *Caturviṁśatikā* Jina Caritra of Amara Candra Sūri[7] (13th century A.D. - 70.367-396) which .invariably refer to the meandering and entwining vines and serpents.[8] The association of deer and elephants, hawks and sparrows, and lizards and scorpions with Bahubalī is also envisaged by these texts.[9]

The antiquity of Bāhubalī images dates back to c.late sixth or early seventh century AD. Then on Bāhubalī was a popular subject of depiction as well as adoration throughout the subsequent cnturies in almost all the regions and in both the *Śvetāmbara* and *Digambara* traditions. The present paper deals with the landmarks of Bāhubalī images in Karnataka. In this connection four main points are to be noted (i) The earliest images of Bāhubalī are found from Karnataka, (ii) These images, belonging to Digambara sect, established the iconographic formula of the depiction of Bāhubalī which was

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

subsequently followed on pan-Indian basis. (iii) The most gigantic images of Bāhubalī were carved in Karnataka which suggest the high esteem accorded to Bāhubāli in the region. (iv) The most important is the earliest rendering of the Vidyādharis (female angels) on both the sides of Bāhubalī images in cuncurrence with the injunctions of the Digambara Jaina texts.

The earliest visual representations of Bāhubalī are known from Digambara Jaina caves at Aihole and Bādāmī (c. A.D. 600) in Bijapur district of Karnataka. These figures, identical in details, show Bāhubali as standing sky-clad in the *kāyotsarga-mudrā* on simple pedestals with hair combed back in *jaṭā* fashion with lateral strands hanging over the shoulders. It may be mentioned here, in passing, that almost all the later examples, mainly from south India, the lateral strands are shown with Bāhubalī which remind us of his association with Ṛṣabhanātha on the one hand and long passage of time of his *tapas* on the other. The entwining creepers, beautifully spread over his legs and hands and cobras,[10] close to his feet, also suggest the prolonged and deep meditation of Bāhubalī. The depression on his abdomen, half-shut eyes and the erect posture also indicate the deep meditation, Bāhubalī in both the instances is joined by the figures of the two Vidyāharis, wearing decorated *mukuṭas* and other ornaments and holding the ends of the entwining creepers.

All the previous scholars including U.P. Shah and C. Sivaramamurti, have identified these flanking female figures with the figures of *sādhvis* Brāhmī and Sundarī, the two sisters of Bāhubalī, who, according to the Śvetāmbara texts, at the instance of Ṛṣabhanātha came to Bāhubalī to persuade him to shake off the remnants of pride. Bāhubalī standing in *kāyotsarga* posture in trance could attain omniscience only after that.[11] But the Digambara works, on the contrary, envisage the presence of the two Vidyādharis, who according to the *Harivaṁśapurāṇa* and the *Ādipurāṇa*[12] came down to earth to remove the entwining creepers from the body of Bāhubalī engrossed in *tapas*. These figures in any case could not be the figures of Jaina *sādhvis*, Brāhmī and Sundarī, in Digambara Jaina context, since these figures are endowed with decorated *mukuṭas* and other ornaments. The

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Digambara works further mention that Bāhubalī attained omniscience only after he received the homage of his elder brother Bharata Cakravartī. It is also mentioned that the devotion of Bharata was so deep that he caused an image of Bāhubalī to be made in gold and installed at Podanapura. The image from Bādamī (verandā of Cave IV) however contains two more female figures, standing close to Bāhubalī with folded hands, These figures may represent the adorers.

A splendid bronze image (20" in height) of Bāhubalī, assignable to c. eighth-ninth century A.D. and reported to have procured from a field at Śravaṇabelgola in Hassan district of Karnataka, is preserved in the Prince of Wales Museum, Mumbai.[13] This image again is the earliest of all the known bronze images of Bāhubalī The sky-clad Bāhubalī stands as he does in the *kāyotsarga-mudrā* with beautifully and tenderly delineated meandering stems with leaves which entwines his legs, thighs and arms. The hair combed back in almost parallel rows beautifully ends in lateral strands falling on shoulders. The oval face has the rare grace and introspective look. The rhythmic body contour combined with animation and plasticity is superb.

What is specially important in the images of Bāhubalī, who was neither a Jina, nor does he figure in the list of the 63 Śalākāpuruṣas (Great Men), is that he occupies such a singularly venerated position in Jaina worship that the tallest images carved in Jaina tradition pertain to Bāhubalī. These colossi are carved at the places such as Śravaṇabelgola (nearly 57 feet high - A.D. 983), Kārkal (AD. 1432) and Veḷnur (A.D. 1604), all in Karnataka. Of all the three colossi, the imposing Śravaṇabelgola figure surpasses all the known figures of Bāhubalī in scale and gradeur. The image prepared by Cāmuṇḍarāya (bearing epithet Gommaṭa), the General of the Western Gaṅga king Rācamalla-IV (A.D. 974-84), shows Bāhubalī as standing sky-clad in the *kāyotsarga-mudrā* with climbing plant fastened round his thighs and hands, and ant-hills carved nearby with snakes issuing out of them.

The Mahāmastakābhisheka of Gommaṭeśvara- Bāhubalī image at Śravaṇabelgola, marking the thousand year of the *Pratiṣṭhāpan* (installation) of the colossus, was celebrated in February 1981. The imposing colossus of rare beauty and grace is undoubtedly the greatest

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

masterpiece of western Gaṅga school prepared with deep devotion. The beautifully delineated entwining creepers and somewhat benign oval face with introspective look, earlobes and perfect state of motionlessness are all superb. The monumentality combined with suppleness is a rare feature of this image. In all the above three colossi, however, the figures of Vidyādharis are conspicuous by their absence. But the other features are in full agreement with the descriptions found in the *Ādipurāṇa* (Parve 36) and the *Harivaṁśapurāṇa* (Sarga 11.98-102). The other two colossi from Kārkal and Veṅūr, both belonging to Vijayanagar period, are identical in details. In all these figures the anthills over the legs of Bāhubalī with the serpents issuing from them could be seen. The installation of these gigantic figures against the natural landscape create a magnificent effect miles around.[14]

The inscription at the feet of the colossus at Śravaṇabeḷgola is not only in Kannaḍa but also in Tamil-Granth and Nāgarī to make it of all India importance. The Deccan, South and North are thus represented by the three scripts giving identical legend of its creation by Cāmuṇḍarāya.[15]

The earliest figures of Bāhubalī from Aihote and Bādamī set the iconographic formula for the rendering of Bāhubalī in respect of the *kāyotsarga-posture*, entwining creepers alongwith the snakes coming out of the anthills, and, above all, the flanking figures of two *Vidyādharis*, holding the ends of the meandering vines. All these features are prescribed by the Digambara Jaina texts. Ellorā (in Aurangabad, Maharashṭra), being the most important Jaina site from the standpoint of the number of independent figures of Bāhubalī (17 figures in all), belonging to 9th century A.D., reveal the distinct bearing of the figures of Bāhubalī from Aihoḷe and Bādāmī. However, further elaboration in terms of some of the *Prātihāryas* like halo, parasol (single but not triple), drumbeater, celestial musicians and sometimes small Jina figures in *parikara* at Ellorā marks the process of elevation of Bāhubalī to make him almost equal to the Jinas, highest in Jaina worship. This process was further intensified in north India as revealed by the Bāhubalī images from the prolific Digambara Jaina sites like Deogarh (10th-12th century A.D.), Khajurāho (10th-12th century A.D.) and Bilhari (11th century A.D.).[16] Besides the *aṣṭaprātihāryas*, the above images from north India

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

also contain the figures of two-armed *Yakṣa* and *Yakṣi* as Śāsanadevatās (Deogarh, temple no. 11 and Śāntinātha Jaina Museum, Khajurāho - 12th century A.D.). In one of the examples from Deogarh (temple no. 2, 11th century A.D.), Bāhubalī is also shown alongwith Śītalanātha and Abhinandan Jinas in *tritīrthī* image.[17]

References :

1. He is also called Bhujabalī and Kukkuṭeśvara and is supposed to be the first among the Kāmadevas of this *avasarpiṇī* age.
2. The Bāhubalī figures from Ellorā also show deer, dogs, rats and camels.
3. The Brahmanical correspondence to such rigorous austerities is the sage Vālmikī around whom also ant-hills and creepers grew during his deep trance. See. U.P. Shah, "Gommaṭeśvara Bāhubalī, the Great Saint", *Jain Journal*, VoL 15, No.4, April 1981, p. 133.
4. Dalsukh Malvania, "The Story of Bharata and Bāhubalī", *Jain Journal*, VoL 15, No.4, April 1981, p. 141.
5. The story is also narrated in the *Āvaśyaka-bhāṣya* as quoted in the *Āvaśyaka-vritti* of Haribhadra and the *Āvaśyaka-cūrṇi* : See. U.P. Shah, op.cit., pp. 131-34.
6. *Paumacariya* 4.43-55 (ed. H. Jacobi, Prakrit Text Society Series 6, Varanasi 1962, pt. I, pp. 34-35.
7. *Padmapurāṇa*, Vol. I, 4.74-77; *Harivaṁśapurāṇa*, 11.98-102; *Ādipurāṇa* (of *Mahāpurāṇa*) 36. 104-186; *Triṣaṣṭśalakapuruṣa-caritra*, Vol. I, *Ādiśvaracaritra*, 5.740-98.
8. *Valmikavivarodyātairatyugraih sa mahoragaih/*
   śyāmādīnaṁ ca vallībhiḥ veṣṭitaḥ prapkevalam// Padmapurāṇa, 4.76 Also see, *Harivaṁśapurāṇa* 11.99-100.
9. *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacaritra*, Vol. I, *Ādiśvaracaritra* 5.745-77; *Ādipurāṇa*, Vol. II, 36.165. It is mentioned in the *Ādipurāṇa* that the lions, elephants and other wild animals of great enmity used to sit amicably near Bāhubalī. This at once reminds us of the Jina *Samavasaraṇa*.
10. Two snakes in case of *Aihoḷe* figure and four in case of Bādāmī figure.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. *Triṣaṣṭiśalākapuruṣacaritra*, Vol. I, *Ādiśvaracaritra* 5.782-87, pp. 325-26.

12. *latāṁ vyapanayantībhyām khecarībhyām babhau muniḥ/*
Harivaṁśapurāṇa, 11.101
vidyādharyaḥ kadācicca krīḍāhetorūpāgatāḥ/
vallīruddheṣṭayāmāsuḥ muneḥ sarvāṅgasaṅginīḥ//
Ādipurāṇa, Vol. I. 36.183.

13. U.P., Shah, "Gommaṭeśvara Bāhubalī....", p. 138.

14. C. Sivaramamurti, *Panorama of Jain Art*, New Delhi, 1983, pp. 6, 131, 86.

15. C. Sivaramamurti, *op.cit.*, p. 131.

16. For details consult U.P. Shah, "Bāhubalī : A Unique Bronze in the Museum," *Bulletin of the Prince of Wales Museum, Bombay*, No. 4, 1953-54, pp. 32-39; Maruti Nandan Tiwari, "Note on Some Bāhubalī Images from North India," *East* and *West*, New Series, Vol. 23, Nos. 3-4, Sept.-Dec. 1973, pp. 347-53.

17. Maruti Nandan Tiwari, *op.cit.*, p. 352.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Gommateśvara Bāhubalī (57 ft. high), Śravanabelgol (Karnataka) AD 983.

Bāhubalī with two Vidyādharis, Deogarh (in temple of Jaina Dharmashala) Lalitpur, U.P. 10th century A.D.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Origin of Śramanism: Causes and Conflict

Dr. Niharika*

Śramaṇas played an important role in the religious and ideological life of India. They were homeless wanderers and their homelessness was for the holy purpose. They were called 'Śramaṇas' because taken by them in observing strict austerities, by dwelling in forests and re-renouncing the worldly affairs[1]. It signified the total break from all worldly relations, thus making them indifferent to all sense perceptions and finally enabling to ignore all actions based on worldly motives. They aim to seaze 'act', 'hope' and 'wish'. They feel and think only 'I am I' an opposite view to Upniṣadic *'Tat tvaṁ asi'*[2] They were "essentially pessimistic in worldly outlook, metaphysically dualistic if not pluralistic, animistic and ultra humane in its ethical tenets, temperamentally ascetic, undoubtedly accepting the dogma of transmigration and *karma* doctrine, owing no racial allegiance to Vedās and Vedic rites, subscribing to the belief of individual perfection and refusing unhesitatingly to accept a creator"[3]. He neither desires for life nor for death because both would be lust capable of awakening *'karma'*. As it is well observed by Dr. Sagarmal Jain, "Śramaṇic tradition is stereological in its very nature. It lays special emphasis on renunciation of worldly belongings and enjoyments and an emancipation from worldly existence. It may be accepted without any contradiction that there very ideas of emancipation *(Mokṣa/ Nirvāṇa/ Kaivalya)* and renunciation *(Tyāga/ Saṁnyāsa/ Vairāgya)* have been cultivated by the Śramaṇas. The asceticism is the fundamental concept of Śramaṇic tradition".[4] Thus the basic difference between early Vedic religion and Buddhism and Jainism was that Vedic religion was against asceticism and emphasized the material welfare of the person and society, the Śramaṇic tradition condemned the worldly existence which is full of sufferings which intends a human being to the 'cycle of birth and death. But stopping this cycle is the ultimate goal of a Śramaṇa.

* *Sri Agrasena Kanya Autonomous P.G. College, Varanasi.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Aṅga texts reveal the existence of a number of wandering communities and its members who gave up all the social contacts and entered into monkhood, wandering like homeless person, for a noble and significant cause. *Sūtrakṛtāṅga* refers to as many as 363 schools while Jain commentator Śīlāṅka (ninth cent A.D.) gives as many as five divisions of *Śramaṇa* class, viz., *Nirgrantha, Śākya, Tāpasa, Gairika* and *Ājīvaka*. The *Aupapātika* refers to a number of other monastic communities[5]. The Buddhist texts *Anguttara Nikāya Milindapaṇha* and *Saṅyukta Nikāya* also refer to a number of wandering sects and faiths. Writings of Magāsthenes and Aśoka's edicts also reveal many groups of such wanderers prevalent at their times.

These homeless wanderers always kept wandering except the rainy season, when they stayed at one place (Vassāvāsa) to avoid injury to living beings. Their lifestyle is described by S. Dutt as "Its members live by begging, have no settled dwelling (except during the rains, when the observance of Rainretreat is a common custom among them), move about from place to place, single or in parties, and are either ascetics practicing austerities or dreamers and babblers of strange gospels"[6]

They didn't believe in any caste, neither caste of a Śramaṇa has to do anything in the society. It was said that a low caste person who became a monk or even a slave, when became a '*pabbajito śamaṇa*' is worthy of reverence even by the king himself. Avantiputta, the king of Madhura, says to Mahākaccana that he would extend same honourable treatment to a Śudra and a Kṣatriya if both of them are Śamaṇas because he loses his former style of Śudra and takes on the name of Śamaṇa. Buddhist texts give many references of Śūdras and Chandālas as becoming Śamaṇas.[7] They had an equal position to that of the Brāhmaṇas, if not superior to them, in the society. Due to their spirituality and intellect they were regarded as Brāhmaṇas. According to Winternitz, "These two representatives of intellectual and spiritual life in ancient India are well recognized by the phrase, 'Śamaṇas and Brāhmaṇas' in Buddhist sacred text, by reference to 'Samaṇa bambhaṇa' in Aśokan inscription and by Megāsthenes, distinction between Brāhmaṇi and Śamaṇi."[8] Patanjali (2nd cent B.C.) also refers Śramaṇa Brāhmaṇa. "Ācārāṅga mentions Śramaṇas and Brāhmaṇas simultaneously and not

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

as rivals. It proves that for the preachers of Ācārāṅga, Śramaṇas and Brāhmaṇas are not rivals to each other as considered later on."[9]

It seems that the behaviour, conduct and qualities were same for the Brāhmaṇa and Śramaṇa and hence their spotless life placed them high in the society. There was a tremendous similarity between Buddhist, Jain and Brāhmaṇical practices of Śramaṇas and they were in constant mutual contacts exchanging and debating their ideas, opinions and knowledge. There is a constant discussion about the origin of Śramaṇas and there are several theories regarding the origin of Śramaṇism but most of them are fanciful and come out of traditions. Few of them seem to be more reasonable and are listed below:

Kṣatriya Protest: Garbe, Jacobi and a few other scholars are of the opinion that the Śramaṇism in Jainism and even in Buddhism was originated as a protest against the exclusiveness and superiority of the Brāhmaṇas. According to Garbe, "these two pessimistic religions (Buddhism and Jainism)..... are simply to be regarded as the most eminent of the numerous teachers who in the sixth century before Christ in North Central India opposed the ceremonial doctrines and the caste- system of the Brāhmaṇas".[10]

It seems that the extremism of Brāhmaṇa priests and their elaborate and extravagant rituals forced Kṣatriyas to protest in this manner, though they could not make the new cult free from castism, because Jaina texts refer 'high' and 'low' tribes *(Jatī Ārya and Jatī- Jungiya)* and 'high' and 'low' crafts *(Sippa Ārya and Sippa Jungiya).* It is rightly remarked by Jain, "Inspite of caste- denouncing preaching and sermons, the Jains could not do away with the time honoured restrictions of caste."[11] So it cannot be confirmed that Śramaṇism came in prominence due to this reason, because 'castism' was prevalent in Jainism too, though its mode was different. Jainism is supposed to be of earlier occurrence than at the time of Mahāvīra, so it could be concluded in S.B. Deo's words. "At the most we may say that this revolt against Vedic philosophy and ritualism which was gathering strength for centuries together previously, found the best expression through Mahāvīra and Buddha, besides some others." Speaking of Buddha and Mahāvīra Pt. Sukhalalaji remarked that both of them are likely to be the Kṣatriya of Vṛṣala group and that Buddha was also known as Vṛṣalaka[12].

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Holy Wanderers in Pre-Buddhist Period: This thought was attained by Rhys Davids who points towards the influence of well organized sophistic wanderers as the origin of Śramaṇism which was gradually taking place of Vedic religion. It is visible in the history of world that this period viz. sixth and fifth century B.C., was a renaissance period which witnessed religious development and changes throughout the world, especially in India, China and Greece, So, the extremism of Brāhmaṇas could not be the whole reason behind Śramaṇism. Rhys Davids notes, "The intellectual movement before the rise of Buddhism was in a large measure a lay movement, not a priestly one." According to Dutta, if we take the Buddhist *Piṭakas* and the Jain *Aṅgas* as representating North Indian life of the sixth century B.C., one interesting feature of it stands out in relief. It is the existence of a numerous community of men who are world forsackers and who live outside the organization of society. They are called by various names- Parivrājaka, Bhikku, Śamaṇa, Yati, Saṃnyāsin etc., the last name normally used to designate men of this type in Brāhmaṇical literature. They are all professed religious, homeless wanderers without kinship or social bond. It seems that the extremism of Brāhmaṇas was being diluted in the period prior to 6th Cent B.C. As regarding ritualism, saṁnyāsa and the nature of *mokṣa*, the Upniṣadas may be said to reveal for advanced and changed views than those found in the Vedic period.[13] But there is nothing except the accounts of the speculative intellectual activities of Śramaṇas, described in the Buddhist and Jain literature to show that there was any intellectual movement in the immediate Pre- Buddhist age. We have no such evidence which could throw light on the condition of Pre-Buddhist India.

Role of Brahmacārins: According to Spence Hardy[14] and Kern[15], Śramaṇism developed with Brahmacārins as their role model, because the qualities and conducts scheduled for the Brahmacārins were also scheduled for the Śramaṇas as wit, celibacy, strict moral, physical discipline and zeal for studies, *Ṛgveda* denotes the Brahmacārins were the oldest among all Āśramas.[16]

But Brahmacārins were very young students seeking for a perfect teacher to consol their thirst for knowledge. They stayed with their teachers while studying only a few of them stayed there for their whole

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

life time. Most of the Brahmnacārins entered into the *gṛhastha- āśrama*, which is a married family life, after completing their studies. These practices were not followed in the life of Śramaṇas. Except this, Brahmacārin is a pupil and leamer, while the Parivrājaka (Śramaṇa?) is a wandering religious man, a teacher and sage. So we cannot say that the Śramaṇas considered Brahmacārins as their role model. They have accepted only a few qualities of Brahmacārins in their life-style.

Role of Brahmacārin & Brahmavādin: Another theory says that the life of Śramaṇa was a miniature of that of Brahmacārins and Brahmavādins. The Śramaṇas therefore, are a combination of the student and the wandering master of the Brahmanical way of knowledge and thought. He behaves like the one and thinks like the other.[17] So his life looks intermingled with many rules and habits of both of them as concluded by Durga Bhagavat "the truth probably lies midway."[18] It may be further included that Śramaṇism has the rules common in Brāhmaṇism, Jainism and Buddhism. Dutta observes, "the Brahmanical Bhikṣu and Jain Samaṇa all belonged to the same ancient society of wandering religious mendicants, and it is obvious that among all these sects there should subsist a certain communities of ideas and practices."[19]

Vedic and Upaniṣadic Conception: Sri Nivas Iyanger identifies the Ṛgvedic Muni with the Saṁnyāsin. In *Atharva Veda*, a glorified roving sprit is called *Vrātya*. He is sometimes described as a human wandering in need of food and lodging. He is a wandering person, wandering among people and being honoured by the king. From this description Roth identified *Vrātya* of *Atharva Veda* with *Parivrājaka*. But Dutt does not agree with Roth and demands for more proves considering above insufficient to identify him as a *Parivrājaka*. Few scholars like Deussen, trace the monastic philosophy of Jainism and Buddhism to the degeneration of the ideas of *Upaniṣads* and say that the common basis of both (Sāṁkhya and Vedānta and with them of Buddhism and Jainism) is to be found in the *Upaniṣads*.[20] So the Buddhism and Jainism are not alien to Hinduism, but they are complementary to each other.

Saṁnyāsa Āśrama: Many scholars have the opinion that Śramaṇism is an exact picture of Brāhmaṇical fourth āśrama, i.e., Saṁnyāsa. Jacobi, Bühler and Charpentier are the admirer of this theory. Jocobi compares rules and thoughts of Buddhism and Jainism

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

with that of Brāhmaṇism and says "Buddhism and Jainism must be regarded as religions developed out from Brāhmaṇism and not by a sudden reformation but prepared by a religious movement gaining for a long time". Charpentier also thinks that the rules and regulations and the mode of life of Śramaṇas was on the foot prints of Brahmanical antagonists and they were in practice in their day to day life since long ago. Its antiquity goes back to early Vedic period where *'āśrama'* way of life is observed.[21] Buddhist and Jain literature say that Śramaṇas and Brāhmaṇas together enjoyed the pre-eminence and esteem and were equally regarded as the chosen exponents of philosophic ideas and speculations. They were equally regarded by house-holders and were equally honoured and gifted by kings and others. Deussen compares Śramaṇās with *Upaniṣadic* theories of Tāpas and Nyasa, but is seems that they can be compared only with the Brāhmanical *Saṁnyāsi* and not with the Buddhist Parivrājakas or Jain Śramaṇas. It is significant that Buddhist and Jain texts never use the term 'Saṁnyāsī' for their spiritual wanderers which was frequently used in the *Upaniṣads*. So it is presumed that the religious mendicancy as an institution in India could not have begun as the empirical result of anyone philosophic doctrine or concept[22] and they adopted some or the other rules, thoughts and principles from each- other. "The doctrine of renunciation in these works *(Dharmasūtras, 5th Cent. B.C)* is not the doctrine of *Saṁnyāsa* as an *āśrama* or stage but as the only mode of ideal life while the Vedic tradition in course of time came to accept the doctrine of Karman and Saṁsāra and hence could not but accept the validity of Saṁnyāsa, it never gave up its age old value of respecting and actively fulfilling social obligations."[23]

Non-Aryan Thoughts: Scholars like Oldenberg, Dutt and Upadhyaya are of the opinion that Śramaṇism has developed out of the non- Aryan east- Indian indigenous element. It is notworthy that one who seeks to embrace religious mendicant discards all the marks of Aryan birth and breading like sacred tuft of hair, sacred thread, sacrificial rites, Vedic studies etc. According to Upadhye "we should no more assess the Sāṁkhya, Jain, Buddhist and Ājīvaka tenets as more perverted continuations of stray thoughts selected at random from the, Upniṣadic bed of Aryan thought current. The inherent similarities in these systems, as against the essential dissimilarities with Aryan (Vedic and Brāhmaṇic) religion and the gaps that a dispassionate study might detect between

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the Vedic (including the Brāhmaṇās) and *Upaniṣadic* thought - currents really point out to the existence of an indigenous stream of thought."[24]

Dutt aggress with this statement and adds, "the institution of Śramaṇism grew up among the imperfectly Aryanised communities of the East, spread, flourished and become highly popular and with the remarkable elasticity which is characteristic of Brāhmanism was later affiliated to the Āryan system of life becoming the fourth āśrama."[25] It is significant that the above mentioned Aryan ritualism was not completely discarded, but it has only changed its outwardly shape in an inward shape like *Prāṇāgnihotra* sacrifice to the fire of his own life, meditation as a sacred tuft of hair and likewise. In fact Jainism, Buddism and Hinduism are so inter-mingled and mutually influenced that to have a proper understanding of one, understand of other is essential. They can be distinguished individually but can not be separated from each-other.[26]

Thus with the above discussion and discrimination, it is obvious that none of the above reasons was solely responsible for the origin of Śramaṇism, but all of them were responsible to give it a shape, strength and strong thoughts. These holy wanderers were anti- Brahmanical only for the priest-hood and their extremism in the rituals. At the same time they show similarities with Brahmacārins and Brahmavādins and with that of fourth āśrama, viz., saṁnyāsa. They resembled with the sophistic wonderers of Brāhmanism, because they also were homeless wanderers with a thirst for knowledge and zeal to study. They were least dependent on society as Saṁnyāsis. They were Magadhan, as they seem to have originated first at Magadh, adopted the local language, local people were their first disciples and from there they spread their thoughts to other parts of India. So, as is said by Deo, "it appears, therefore, that Śramanism was the outcome of the blending of all these elements- indigenous and borrowed. These ancient, homeless community seems almost immortally ancient in India and exits till today."

References :

1. Mehta, T.U. *The Path of Arhat*, A Religious Democracy. Parshvanath Sodhpitha, Varanasi 1993, p. 3.
2. Webar, Max. *The Religion of India*, U.S.A. pp. 195, 196.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. *Bṛahtkathākośa* of Hariṣeṇa, ed. By A. N. Upadhye, Bombay 1943, Prv. pref. pp. 12- 13, Intro. P. 12.
4. Jain, Sagarmal, *An Introduction to Jain Sadhanā* (Jaina Way of Living) Parsvanath Vidyapitha, Varanasi 1995. p. 1.
5. Sen, Amulyachandra, *Schools and Sects in Jain Literature.*
6. Dutt, Sukumar, *Early Buddhist Monachism*, Asia Publishing House, 1960, p. 31.
7. Rhys Davids, *Dialogues of the Buddha*, vol. II, p. 103., *Sāmañña-Phala-Sutta, Aganna Sutta* of *Digha* and Madhura-Sutta of *Majjhima Nikāya, Jatak* CIII, 381.
8. Upadhye , op. cit, Intro p. 13.
9. Jain, *op. cit.* p. 6.
10. Garbe, R. *Philosophy of Ancient India*, p. 12.
11. Jain, *Life in Ancient India*, p. 141.
12. Mehta, op. cit. p. 4.
13. Deo, S. B., *History of Jaina Monachism*, Deccan College Dissertation Series 17, p.50.
14. Hardy, Spence, R, *Eastern Monachism*, p. 74.
15. Kern, *Mannual of Buddhism*, p. 73.
16. Ṛgveda, V, 100·15.
17. Deo, op. cit. p. 51.
18. Bhagvat, Durga, *Early Buddhist Jurisprudence*, p. 17
19. Dutt, S. *Early Buddhist Monachism,* London, p. 51.
20. Deussen Paul, *Outlines of Indian Philosophy*, Ancient India, vol. XXIX, p. 397. 21. Law, N.N., *Studies in Indian History and Culture*, p. 3.
22. Dutt, op. cit. p. 39.
23. Pande, G.C. *Sri R. K. Jain Memorial Lectures on Jainism*, University of Delhi, Delhi 1977, p. 4.
24. *Brhatkathākośa*, Intro p. 12., also see *Pravacanamālā*, Pref. pp. 12-13.
25. Dutt, op. cit. p. 67, 53 ff.
26. Jain, Sagarmal, op. cit. 2.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jaina contribution to Indian Sanskrit Grammar - A Survey

Dr. Ashok Kumar Singh*

The term *Vyākaraṇa*, derived from the root *Kṛ* with the prefixes *Vi* and *A* and the suffix *Lyuṭ*, primarily means analysis and secondarily, explanation of words by analysis (*Vyākṛyante Śabda Anena*- showing the etymology of words with view to explaining them- *Pātañjali Mahābhāṣya, Ahnikā I, Vārttika 13,)*. Thereby, *Vyākaraṇa* is a branch of knowledge regarding the science of speech, consisting of rules and examples *(Lakṣya* and *Lakṣaṇa),* governing and describing the formation of words by analysis. Its corresponding term Grammar derived from Latin '*grammatike'* stands for that branch of the study of language, dealing with inflexional forms, rules for their correct application, syntax and sometimes, the phonetic system of the language and its representation of writing. The grammars of modern European languages, however, deal mainly with the structure of the respective languages rather than with their phonetics and etymology.

Grammar was recognized from the earliest times in India as a distinct science. The origin of grammar in Indian tradition in general and in Jaina tradition in particular is unclear. Kumārila Bhaṭṭa (7th cent. AD) pointed out that we could not think of any point of time totally devoid of some work or other dealing with the grammatical rules treating of the different kinds of roots and suffixes. Pāṇini along with Yāska, positively representing a stage of thought several centuries before the Christian era, refers to a number of grammatical authorities and their views. The urge to analyze speech, is the basis of all grammatical literature alluded to in the *Taittirīya Saṁhitā* (VI, 4.7). It mentioned that gods approached Indra and requested him to analyze speech and the latter complied. Thus, Indra traditionally, analyzed for the first time a speech utterance in terms of its parts. The scholars speak

* *Sr. Lecturer, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of an Aindra School of grammarians in locating the origin of Grammar. According to Prof. Śatakarī Mukhopadhyaya systematic grammatical speculations took definite shape early in India, at least as early as the period of *Brahmaṇa* texts.

At the earliest grammatical speculations were concerned with Vedic studies, i.e. correct chanting, understanding and ritualistic application of Vedic hymns. Grammar, was first developed as one of the six *Vedāñgas* i.e. auxiliary sciences, related to *Vedas*. *Vyākaraṇa* is specifically mentioned in the *Gopatha Brāhmaṇa* (I, 12) of the *Atharvaveda*, along with its some important terminology viz. *Dhātu* (verbal root), *Prātipadika* (stem), *Nāman* (substantive), *Ākhyāt* (verb), *Linga* (gender), *Vacana* (number), *Vibhakti* (declensional and conjugational endings) i.e. inflexions, *Pratyaya* (suffix), *Svara* (accent), *Upasarga* (prefix) and *Nipātas* (indeclinable).

Among the six accessories to the study of Vedas, the two directly concerned with language are: *Vyākaraṇa* (grammar) and *Nirukta* (etymology). Immediately, *Vyākaraṇa* was universally accepted as the chief of *Vedāṅgas (Vedasya Mukhaṁ Vyākaraṇaṁ Sūṛtaṁ, Patañajali Mahābhāṣya, Ahnikā I)*. The earliest work, analyzing the hymns of *Ṛgveda*, is the *Padapāṭha* of Śākalya, an eminent grammarian, remembered as such by later authorities. He might have written a grammar, extinct today.

The oldest phase of grammatical literature in Sanskrit belongs to the *Prātiśākhyas*, primarily, connoting treaties, viz. *Ṛgveda Prātiśākhya* of Śaunaka, *Rktantra-Vyākaraṇa*, one *Sāmaveda Prātiśākhya* (ascribed to Śākaṭāyana), *Puṛspasūtra*, a *Sāmaveda-Prātiśākhya* and *Taittirīya Prātiśākhya*. The *Nirukta* of Yāska (c. 8th cent. BC), a commentary on *Nighaṇṭu*, is a landmark in the ancient Indian literature on grammar.

However, the earliest extant systematic and full-fledged work on Sanskrit grammar is the *Aṣṭādhyāyī*, with four supplementary texts, viz. *Dhātupāṭha, Gaṇapāṭha, Paribhāṣā* and *Lingānuśāsana*. Patañjali *Mahābhāṣya*, is a monumental work in the tradition of Paṇinian grammar. The earliest extant *Vṛtti* (commentary), covering whole of the *Aṣṭādhyāyī*, is the *Kāśikāvṛtti* of Vāman and Jayāditya (6th cent. AD), both known to be Buddhists. In spite of its depth and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

comprehensiveness, lack of treatment of specific topics in a particular chapter in a cohesive manner, induced in, as early as tenth century to rearrange the sūtras, along with easy and concise *Vṛtti* (gloss). This system called *Prakriyā* system was initiated by Dharmakirti's *Rūpāvatāra* (11th cent.). The frame of all the earlier *Prakriyā* works was virtually eclipsed by the *Siddhānta Kaumudī of* Bhattojī Dixit, a work to the point, erudite and easy.

The study of Sanskrit grammar was so fascinating to Indian scholars that many grammars were written out side the Pāṇinian School, though not totally free from the overwhelming influence of Paṇini and his successors, each starting a new school. Among the non-Paṇinian grammars, the foremost and earliest is *Kātantra Vyākaraṇa*, also known as *Kalpa* or *Kumāra Vyākaraṇa* of Śivavarman (2nd cent. AD), who wrote his grammar, based on an older work, most probably the ancient *Kakṣakṛtsna Vyākaraṇa*, now lost. An excellent Sanskrit grammar, *Jainendra Vyākaraṇa* of Devanandi alias Pūjyapāda (5th cent. AD), *Śākaṭāyana Vyākaraṇa* of Pālyakīrti (9th cent. AD) and *Sarasvatī Kaṇṭhābharaṇa* of king Bhojadeva of Dhara (11th cent. AD) are the original contribution to Sanskrit grammar. *Kalikāla Sarvajña* Hemacandra's *Siddhahema-śabdānuśāsana* is a major work on both Sanskrit and Prakrit grammar.

Among other non-Paṇinian grammars mention may be made of the *Sārasvata Vyākaraṇa* of Anubhūtasiddhācarya (12th cent.), *Mugdhabodha* of Vopadeva (14th cent.), *Supadma Vyākaraṇa* of Padmanabha (14th cent.), Harinamamṛta *Vyākaraṇa* of Rūpagosvāmin and Śrī Jīvagosvami (16th cent.)

Siddhāntacandrikā or *Sārasvatacandrikā* of Ramaśarma (17th cent,) as the notable works of Indian tradition on grammar. Jaina tradition also has made a valuable contribution to the field of grammar. In fact, Jaina tradition has preserved and extended the Indian tradition of Sanskrit grammar of earlier writers by writing commentaries on their ancient texts.

The origin of Jaina grammar may be traced back to the extinct twelfth *Añga Dṛṣṭivāda*, containing 14 *Pūrvas*. According to Siddhasena, **grammar in Jaina tradition originated from the *Śabdaprābhṛta*.**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Nemicandra Sastri considers *Satya-pravādapūrva* to be the source of the origin of Jaina grammar. Lord Mahavira is also accredited to have written a grammatical treatise *Śabdānuāsana* for Indra. Jaina canons also refer to the grammar. *Sthānāñga (VIII)* mentions 8 cases, *Anuyogadvāra* refers to three *Vacanas* (number), *Liñgas* (genders), *Kālas* (tenses) and *Puruṣas* (persons). It also states 4, 5, and 10 kinds of *Sañjñā* (nouns) and seven *Samāsas* (assimilations) and five *Padas*. Probably, the writing of Jaina works in Sanskrit prompted the Jaina authors to write Jaina Sanskrit grammar.

Coming to the post Mahavira Jaina tradition, both of its prominent sects: Śvetambara and Digambara have their own literature and not surprisingly, each developed its peculiar grammatical tradition. The Digambara tradition of grammar begins with the *Jainendra Vyākaraṇa*, traditionally attributed to Mahavira, but in fact composed during fifth cent. AD by Pūjyapāda Devanandi. *Śabdānuśāsana* and *Amoghavṛtti* of Abhinava Śākaṭāyana (c. AD 850) may be treated as the earliest Yāpanīya works on the grammar. *Śabdānuśāsana* draws on all the prominent works of his predecessors. *Pañcagranthi* or *Śabdalakṣaṇa* of Buddhisāgarsūri (AD 1024) is in all probability the first work of grammar of Śvetambar tradition. Terapanthi sect, a prominent sub-sect of Śvetambar Jainas, possesses a grammar of its own entitled *Bhikṣuśabdānuśasana* of Muni Chauthamala (1935 AD), forming the basis of the study of Sanskrit grammar by monks and nuns of this sect.

Prior to *Jainendravyākaraṇa*, the works (all lost) of six grammarians: 1. Śrīdatta, 2.Yaśobhadra, 3. Bhūtabali, 4. Prabhācandra, 5. Siddhasena and 6. Samantabhadra, are referred. *Tantrapradīpa* of Maitreyarakṣita refers to *Kṣapaṇaka-Vyākaraṇa* of Kṣapaṇaka (c. AD 1st cent.) and a commentary *Mahānyāsa* on it by anonymous (both not available). Some identify Kṣapaṇaka with Siddhasena.

Pūjyapāda Devanandi, Pālyakīrti Śākaṭāyana and Ācārya Hemacandra, forming the triad, occupied the same place of prominence in Jaina tradition of grammar as *Munitraya* (triad of sages) Paṇini, Kātyāyana and Patañjali in Vedic tradition. In addition, *Śabdānuśāsana* of Malayagiri and *Bhikṣuśabdānuśāsanaṁ* of Terapanthi Ācārya Cauthamala are the prominent contributions of Jaina tradition to the Sanskrit grammar.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Grammar, in general, has certain features. It analysed the language into verbal and nominal bases. It includes *Paribhāṣā* categorised as *Dhātupāṭha* the exhaustive lists of primitive verbal roots and *Gaṇapāṭha* the selective list of nouns, verbs and so on for application in rules. A further feature of grammar is a set of *Paribhāṣās* (metarules)- prescribing the order in which to apply the rules, where exceptions are to be made and so forth. *Uṇādisūtras* provide rules for introducing affixes after verbal roots to derive nominal bases. These *Sūtras* are supposed to represent a development of analysis over a long period. The authorship of these *Sūtras* is attributed to Śākaṭāyana, instead of Pāṇinī. *Phiṭsūtras* are a set of ancillary *sūtras,* providing principles of accentuation. A feature of these rules is that accents are presupposed for nominal bases, from which the rules derive revisions of accentuation for the whole of which those bases form a part. *Liñgānuśāsana* rules regulate genders, specifying how to determine the gender of linguistic items based on their structure and meaning.

Before presenting the details of the works and commentaries by scholars of Jaina tradition, a few words about the scheme of their treatment will be in order. The contribution of Jaina tradition is broadly divided into **Sanskrit Grammar** and **Prakrit Grammar**.

The works on Sanskrit grammar are again classified as:

[1] Jaina works and their commentaries,

[2] Commentaries on non-Jaina works,

[3] Works on *Khilpāṭha, Auktika* works

[4] Jaina works in Vernacular languages.

Again, the Jaina works and their commentaries are treated as:

{1} Prominent Jaina works,

{2} Minor Jaina works including other Jaina works with incomplete information. Likewise, the Jaina commentaries on non-Jaina works are grouped as those on well-known works and minor works. The *Auktika* works and those on the part of grammar such as *Dhātupāṭha, Gaṇapāṭha* etc. are also treated separately. The commentaries on *Śabdānuśāsana* of Hemacandra and its allied literature are enormous. Therefore, after furnishing details of the auto-commentaries on text

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and its parts, those by other scholars on the text and its parts have been dealt herein. The extinct works are indicated by the terms lost, not available etc.

As already mentioned *Jainendravyākaraṇa* of Devanandi (c AD 5th cent.) (first available Jaina grammar of Digambara tradition), *Śabdānuśāsana* by Pālyakīrti Śākaṭāyana (9th cent. AD) or Abhinava Śākaṭāyana or Jaina Śākaṭāyana of Yāpanīya tradition and *Siddhahemacandra or Haima Vyākaraṇa or Śabdānuśāsana* of Ācārya Hemacandra (AD1150), the most popular work in the Jaina tradition, *Śabdānuśāsana or Muṣṭivyākaraṇa* by Malayagiri, the well-known commentator of (first half of the 13th cent. AD) and *Bhikṣuśabdānuśāsana* of Muni Chauthamala, a Terāpanthi Ācārya, composed during 1923-1937 AD, are among prominent Jaina grammatical works.

The works on Prakrit grammar are classified as

[1] Prakrit grammar: Original and Modern

[2] Prakrit grammars and grammarians referred to,

[3] Modern works on Prakrit in general,

[4] Works on the dialects of Prakrit and

[5] Comparative works on Prakrit grammar.

The works on the dialects of Prakrit grammar are again subdivided into heads {I} Inscriptional Prakrit, {II} Ardhamāgadhi, {III} Śauraseni, {IV} Apabhraṁśa and (V) *Deśya* Prakrit.

[A] Sanskrit Grammar

The survey begins with the mention of text *Jainendra Vyākaraṇa* and *Prakriyā* works of Pūjyapāda Devanandi such as (1) *Dhātupāṭhamūla*, (2) *Dhātupārāyaṇa*, (3) *Gaṇapāṭha*, (4) *Uṇādisūtra*, (5) *Liñgānuśāsana*, (6) *Liñgānuśāsanavyākhyā*, (7) *Vārttikapāṭha* (8) *Paribhāṣāpāṭha* and (9) *Śikṣāsūtra*. *Jainendra Vyākaraṇa* has following commentaries:

1. *Jainendranyāsa*, an auto-commentary (lost).

   Jainendrabhāṣya by anonymous (lost).

2. *Mahāvṛtti* or (*Jainendra-Vyākaraṇa-vṛtti*) by Abhayanandi (c. 750AD).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. *Śabdāmbhoja-bhāskaranyāsa* (c.980-1065AD) by Prabhācandra (11th cent.AD

4. *Śabdārṇava or Jainendravyākaraṇa-Parivartita-Sūtra-pāṭha*) by Ācārya Guṇanandi (before c 979AD).

5. *Pañcavastu Prakriyā or Śabdārṇavaprakriyā or Jainendra Prakriyā* of Śrutakīrti (beginning of the 12th cent. AD),

6. *Laghu Jainendra (Jainendravyākaraṇa-Ṭīkā)* of Pt. Mahācandra (12th cent. AD),

7. *Anitsvarāntakārikā* of Vijayavimala (17th cent.) and his auto-commentary on it ,

8. *Jainendravyākaraṇa-Vṛtti* by Meghavijaya (c AD 18th cent.)

9. *Jainendra Prakriyā* of Pt. Vañshidhara (20th cent. AD),

10. *Prakriyāvatāra* of Nemicandra (referred),

11. *Jainendra Laghuvṛtti* of Pt. Rajkumar Dharmaśastri.

12. *Śabdārṇavacandrikā* (*Jainendravyākaraṇa-Vṛtti*) of Somadeva (first half of the 13th cent. AD).

13. *Śabdārṇava-Prakriyā* by anonymous.

14. Bhagvadvāgvādinī by, Muni Atari (AD 1757).

15. *Jainendravyākaraṇapañcavastu,* a recast of *Jainendravyākaraṇa* and

16. *Jainendravyākaraṇa-prakriyāmālā.* have been treated in this section.

The treatment of literature related with the grammar of Śākaṭāyana includes 1. *Dhātupāṭha.* 2. *Śākaṭāyanadhātupāṭha* (referred), 3. *Gaṇapāṭha,* (referred) 4. *Uṇādipāṭha,* (referred) 5. *Paribhhāṣāpāṭha* (referred), 6. *Liṅgānuśāsana,* 7. *Upasargārtha* and 8. *Taddhitasaṅgraha,* all ascribed to him. It also includes these commentaries on his *Śabdānuśāsana* :

1. *Amoghavṛtti (Śākaṭāyana-Vyākaraṇa-Vṛtti),* an auto-commentary,

2. *Rūpasiddhi (Śākaṭāyana-vyākaraṇa-Ṭīkā)* of Dayāpāla (9th-10th cent. AD),

3. *Cintāmaṇi-Śākaṭāyanavyākaraṇa-Vṛtti* of Yakṣavarma or Yaśo-varmadeva (12th cent. AD), which in turn has commentaries on it by (a) Ajitasena (12th cent.), (b) *Cintāmaṇipratipada* or *Cintā-*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

maṇipradīpa of Mañgarasa or Muñgarasa (c) *Cintāmaṇiviṣamapada Ṭīkā* or *Vṛtti-Ṭippaṇa* of Samantabhadra and (d) *Cintāmaṇivṛtti* by anonymous (inc.),

4. *Śākaṭāyana-Nyāsa* of Prabhacandra (12th-13th cent. AD),
5. *Śākaṭāyana- Prakriyāsaṅgraha* of Abhayacandra (14th cent. AD),
6. *Śākaṭāyana-Ṭīkā* of Bhāvasena Traividya,
7. *Amoghavistara* (c. 13th-14th AD) by anonymous,
8. *Śākaṭāyanatarañgiṇī*, (referred),
9. *Śākaṭāyanaṭīkā* on *Amoghavṛtti*,
10. *Maṇi-Prakāśikā* (*Śākaṭāyana-Vyākaraṇa-Vṛtti-Cintāmaṇi-Ṭīkā*).

This section also deals with the commentaries on the parts of Śākaṭāyana Grammar, such as

1. *Dhātupāṭha-Vivaraṇa*, an auto-commentary by Śākaṭāyana,
2. *Śākaṭāyanadhātupāṭha* by Dhanapala ,
3. *Dhātupāṭha commentary* by Kṣemendra,
4. *Dhātupāṭha commentary* by Harṣakīrtisūri,
5. *Gaṇaratnamahodadhi* (AD 1122) of Vardhamānasūri,
6. *Uṇādisūtra-Vṛtti* by anonymous,
7. *Gaṇapāṭha* ,
8. *Paribhāṣā Śabdānuśāsana* of Śākaṭāyana,

The literature related with the Grammar of Hemacandra may be treated under heads:

[1] Auto-commentaries on the text,

[2] *Prakriya* works and their auto-commentaries,

[3] (a) Commentaries by other scholars on *Śabdānuśāsana*, (b) on his auto-commentary *Bṛhannyāsa* and (c) *Prakriya* works.

[1] **Auto-commentaries on the text,**

1. *Svopajñalaghuvṛtti*, an auto-commentary in (6,000 *Granthāgras*)
2. *Svopajña Madhyamavṛtti (Laghuvṛtti-Avacūri-Pariṣkāra)*,
3. *Rahasyavṛtti*, an auto-commentary,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. *Bṛhad-vṛtti (Tattvaprakāśikā)*, an auto- commentary,
5. *Bṛhannyāsa or Śabdamahārṇava or Mahārṇava*, an extensive, critical auto-commentary on his *Bṛhad-vṛtti*.

[2] **Prakriya works and their auto-commentaries:**

1. *Dhātupāṭha* on Hemacandra grammar,
2. *Haima-Dhātupārāyaṇa* and its commentary,
3. *(Laghu Dhātupārāyaṇa)*,
4. *Dhātumālā*,
5. *Haimaliṅgānuśāsana* & its two auto-commentaries,
6. *Uṇādisūrta or Uṇādigaṇasūtroddhāra or Uṇādigaṇasūtra-vivaraṇoddhāra* by Hemacandra; part of his grammar with auto-commentary,
7. *Gaṇapāṭha* & its commentary,
8. *Paribhāṣāpāṭha* by Hemacandra, supplemented by Hemahansagaṇi,
9. *Paribhāṣāpaddhati* on the grammar of Hemacandra School,
10. *Bālabhāṣā-Vyākaraṇavṛtti*,
11. *Bhvādisattāvacūri*,
12. *Dhātumālā*,
13. *Liṅganirdeśa* and
14. *Liṅgānuśāsana-Vivaraṇoddhāra*.

[3] **(a) Commentaries by other scholars on *Śabdānuśāsana*,** The commentaries on *Siddhahaima-śabdānuśāsana* are:

1. *Nyāsasārasamuddhāra* or *Nyāsoddhāra* or *Bṛhannyāsa-Durgapada-Vyākhyā* of Kanakaprabhasūri (13th cent. AD),
2. *Nyāsa-Samuddhāra* by Ācārya Vijaya Lavaṇyasūri (13th cent. AD),
3. *Laghunyāsa* by Ramacandrasūri (13th cent. AD),
4. *Nyāsasāroddhāra-Ṭippaṇa* by anonymous (13th cent. AD),
5. *Aṣṭādhyāyatṛtīyapadavṛtti* of Vinayasāgarasūri (AD 1207),
6. *Bṛhadvṛtti-Avacūrṇikā* (AD 1207) by Amaracandrasūri,
7. *Laghunyāsa* by Dharmaghoṣasūri (14th cent. AD),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. *Haimalaghuvṛtti-Avacūri* of Dhanacandra (14th cent. AD),
9. *Catuṣkavṛtti-Avacūri* by anonymous,
10. *Haima-Laghuvṛtti-Dhuṇḍhikā* or *Haimalaghu-Vṛtti-Dīpikā)* of Muniśekhara,
11. *Laghuvyākhyānaḍhuṇḍhikā* by anonymous,
12. *Ḍhuṇḍhikā-Dīpikā* of Kākala Kāyastha,
13. *Laghuvṛtti- Avacūri* (AD 1453) of Nandasundara Muni,
14. *Bṛhadvṛtti-Sāroddhāra* (AD 1464) by anonymous,
15. *Bṛhadvṛtti-Ḍhuṇḍhikā* (AD 1534) of Muni Saubhagyasagara,
16. *Haimaḍhuṇḍhikā* or *Vyutpattidīpikā* (AD 1534) by Udaisaubhāgya,
17. *Bṛhadvṛtti-Dīpikā* of Vidyakara,
18. *Kakṣāpaṭa-Vṛtti or Bṛhadvṛtti-Viṣamapada Vyākhyā* by anonymous,
19. *Bṛhadvṛtti-Ṭippaṇa* (AD 1589) by anonymous,
20. *Haimodāharaṇa-Vṛtti* by anonymous,
21. *Balābalasūtravṛtti* by anonymous and
22. *Nyāsānusandhāna* of Vijayalāvaṇyasūri (20th cent. AD).

(b) Commentaries by other scholars on Hemacandra's auto-commentary *Bṛhannyāsa* and *Bṛhad-vṛtti* are:

1. *Bṛhadvṛtti-Avacuri* by Abhayacandra,
2. *Haimavṛtti* of Śriprabhasūri (AD 1223), 3. *Katicid Haima-Durgapada-Vyākhyā* of Devendra (13th cent. AD).
4. *Haimalaghunyāsa* of Devendrasūri (13th cent. AD),
5. *Ṭīkā* of Abhayatilaka (13th cent. AD)
6. *Haimavyākaraṇa-Avacūri* of Ratnaśekhara,
7. *Haimadaśapādaviśeṣa* by anonymous,
8. *Haimadaśapādaviśeṣārtha* by anonymous,
9. *Haima Ḍhuṇḍhikā* of Vinayacandra,
10. *Dīpikā* by Vijayasiṁhasūri (AD 1311),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. *Nyāsa* on *Haima Bṛhadvṛtti* of Udaicandra (not available),

12. *Avacūri* on *Haimalaghunyāsapraśasti* of Udaicandra.

(c) Commentaries by other scholars on his *Prakriyā* works.

The commentaries on Hemacandra *Śabdānuśāsana* also include *Prakriyā* works on his text. These are as follows:

1. *Haimakāraka Samuccaya* of Śriprabhasūri (c.1223 AD),
2. *Haimalaghu-Prakriyā* of Upadhyaya Vinayavijayagaṇi (AD 1653),
3. *Haimaśabdacandrikā* of Upādhyāya Meghavijayagaṇi(AD 1700),
4. *Candraprbhā (Haimakaumudī)* or *Bṛhatprakriyā* of Upādhyāya Meghavijayagaṇi (AD 1700),
5. *Hemaśabdaprakriyā* of Upādhyāya Meghavijayagaṇi (c 1700 AD),
6. *Haimabṛhatprakriyā* of Māyāśañkara Girijāśañkara (20th cent. AD),
7. *Haima-Prakriyā* of Vīrasena,
8. *Haimaprakriyāśabda-Samuccaya* by anonymous,
9. *Hemaśabdasamuccaya* by anonymous,
10. *Hemaśabdasañcaya* by Amaracandra and
11. *Hemaśabdasañcaya* by anonymous.

(d) Commentaries by other scholars on the parts of Hemacandra's grammar such as on (I) *Dhātupāṭha*, (II) *Gaṇapāṭha*, (III) *Uṇādipāṭha*, (IV) *Liñgānuśāsana* and (V) *Paribhāṣāpāṭha*.

(I) Commentaries by other scholars on *Dhātupāṭha*:

1. *Kriyāratnasamuccaya* of Guṇaratnasūri (c.1409 AD),
2. *Dhātupārāyaṇa- Vṛtti* by Malayagiri,
3. *Haimadhātuvyākhyā* of Puṇyasundaragaṇi,
4. *Haimadhātupāṭha- Avacūri* (AD 1444) of Jaivīragaṇi,
5. *Svopajña Dhātupāṭha-Vivaraṇa* of Harṣakīrtisūri (16th cent. AD),
6. *Haimadhātupārāyaṇa-Ṭippaṇī* (AD 1459) by anonymous,
7. *Kavikalpadruma* (AD 1520) of Harṣakulagaṇi,
8. *Kavikalpadruma-Ṭīkā* or *Dhātucintāmaṇi* by Muni Vijaya Vimala,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9. *Dhātupāṭha -Vṛtti* (AD 1772) by Kṣamākalyāṇa,
10. *Dhātupāṭha-Avacūri* by anonymous,
11. *Kriyācandrikā Ṭīkā* by anonymous and
12. *Ākhyātavṛtti* by anonymous.

(II) *Gaṇapāṭha:*

1. *Gaṇaviveka* of Pt. Nandiratna (17th cent. AD) and
2. *Gaṇadarpaṇa* of King Kumarpāla (1142-1172 AD).

(III) *Uṇādipāṭha:*

1. *Uṇādigaṇasūtrāvacūri* by anonymous,
2. *Uṇādisūtradaśapādi* or *Uṇādsūtravṛtti* by Māṇikyadeva,
3. *Uṇādipratyaya* by Digambara scholar Vasunandi and
4. *Uṇādināmamālā* (17th cent. AD) of Śubhaśīlagaṇi.

(IV) *Liṅgānuśāsana:*

1. *Hemaliṅgānuśāsana-Avacūri* of Kanakaprabha (13th cent. AD),
2. *Durgapadaprabodha Vṛtti* (AD 1604) of Muni Pathak Vallabhagani,
3. *Hemaliṅgānuśāsana-Vṛtti* of Kalyāṇasāgara (17th cent. AD),
4. *Hemaliṅgānuśāsana-Avacūri* of Keśaravijaya and
5. *Liṅgānuśāsana-Vṛttyuddhāra* of Jayanandasūri.

(V) Commentaries by other scholars on *Paribhāṣāpāṭha*:

1. *Nyāyārthamañjūṣā* or *Nyāyasañgraha* and auto-commentary *Nyāsa* of Hemahaṁsagaṇi (AD 1458),
2. *Nyāyārthasindhu & Tarañga* (AD 1953) of Vijaya Lāvaṇya Muni,
3. *Paribhāṣā-Vṛtti, Śabdānuśāsana* or *Muṣṭivyākaraṇa* by Malayagiri (first half of the 13th cent.), his auto-commentary, *Dhātupāṭha, Gaṇapāṭha, Uṇādipāṭha* and *Liṅgānuśāsana* (all lost).

The works on grammar written by Terapanthi sect:

1. *Bhikṣuśabdānuśāsana* of Muni Chauthamalaji,
2. *Bhikṣuśabdānuśāsana- Laghuvṛtti* by Ācārya Tulsi & Muni Dhanapat Ji and Chandanamalaji, in 1938 AD,
3. *Bhikṣu Dhātupāṭha* by Muni Chandanamalaji in 1932 AD,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. *Bhikṣu Gaṇapāṭha* contained in *Bṛhadvṛtti* of Pt. Raghunandan,
5. *Aṣṭādhyāyī -Bṛhadvṛtti, Bhikṣuliṅgānuśāsana Savṛttika* (AD 1940) of Pt. Raghunandan,
6. *Uṇādivṛtti* by Muni Chauthamalaji (AD 1926),
7. *Bhikṣunyāyadarpaṇa- Laghuvṛtti* by Muni Chauthamalaji (AD 1926),
8. *Bhikṣunyāyadarpaṇa Bṛhadvṛtti* by Muni Chauthamalaji (AD 1926),
9. *Kālukaumudī* by Muni Chauthamalaji (AD 1926),
10. *Tulsi Prabhā* by Muni Sohanalalji (Churu) (1939- 1942 AD) and
11. *Kārikā Sañgraha-Vṛtti* related with *Tulsi Prabhā.*

[B] Other Jaina Grammars:

In addition to above -mentioned prominent works, the other works are:

1. *Kṣapaṇakavyākaraṇa* (1st cent. VS) by Kṣapaṇaka,
2. *Buddhisāgara* or *Pañcagranthī* or *Śabdalakṣma* by Buddhisagar (AD 1023),
3. *Dīpakavyākaraṇa* (not available) (prior to 1140 AD) by Bhadreśvarasūri,
4. *Kātantrottaravyākaraṇa* (lost) of Vijayananda (c prior to 1151 AD) of Tapāgaccha,
5. *Siddhasārasvatavyākāraṇa* (AD 1218) by Devanandasūri of Candragaccha,
6. *Vibhaktivicāra* (AD 1149) of Jinamata Sādhu of Kharataragaccha,
7. *Premalābha-Vivaraṇa* (1214 or 1216 AD) of Premalabha,
8. *Vidyānandavyākaraṇa* (lost) (AD 1255) of Vidyanandasūri,
9. *Nūtanavyākaraṇa* (AD 1383) of Jaisinghsūri,
10. *Upasargamaṇḍana-Kavikalpadruma-Skandha* (AD 1435) by Mantrimaṇḍana of Maṇḍavagarh,
11. *Ṣaṭkāraka-Vivaraṇa* or *Ṣaṭkārakalakṣaṇa* of Amaracandrasūri (15th cent. AD),
12. *Bhojavyākaraṇa* of Vinayasagara Upadhyaya (17th cent. AD),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. Śabdabhūṣaṇa-Vyākaraṇa (c 1713 AD) of Dānavijaya and

14. Siddhāntaratnikāvyākaraṇa by Jinacandrasūri (20th cent. AD).

***[C-1]* Jaina Commentaries on prominent Non-Jaina Grammars,** *this section included those related with*

(I) Aṣṭādhyāyī of Pāṇini, (II) Kātantravyākaraṇa of *Śivasarman*, (III) *Sārasvata-Vyākaraṇa* by Narendrācarya (c AD 13th cent.) and (IV) *Siddhāntacandrikāvyākaraṇa, a non-Jaina commentary by Rāmaśrama or Ramacandraśrama on Sārasvatavyākaraṇa.*

[1] **Jaina Commentaries on *Aṣṭādhyāyī* of Pāṇini:**

1. *Vyākaraṇasiddhāntasudhānidhi* by Ācārya Viśveśvarasūri,
2. *Śabdāvatāranyāsa* (lost) a commentary of Pūjyapāda (c AD fifth cent.),
3. *Kāśikā-vṛtti* or *Kāśikāvivaraṇapañjikā* by Jinendrabuddhi,
4. *Prakriyāvyākhyā* or *Prakriyāmañjarī* by Muni Vidyasagar and
5. *Dhatumañjarī* by Siddhicandra.

[II] **The Jaina commentaries on *Kātantravyākaraṇa:***

1. *Kātantravistara* (AD 1140) by Vardhamāna, the author of *Gaṇaratnamahodadhi,*
2. *Durgapadaprabodha-Ṭīkā* (AD 1271) by Ācārya Jinaprabodhasūri alias Prabodhamurtigaṇi,
3. *Daurgīsiṁhī-Vṛtti* (AD 1312) by Ācarya Pradyumnasūri,
4. *Kātantravibhrama-Ṭīkā* by Ācārya Jinaprabhasūri (AD 1295),
5. *Kātantravibhrama-Ṭīkā* by Muni Cāritrasiṁha(1569 AD or 1578 AD),
6. *Kātantradīpakā-Vṛtti* by Harṣacandra and
7. *Kātantrarūpamālā-Laghuvṛtti* by anonymous.

There are also a number of Prakriya works on *Kātantra Vyākaraṇa viz.*

1. *Bālaśikṣāvyākaraṇa* (AD 1279) (Gujarati) by Thakkura Sangramasiṁha,
2. *Bālabodhavyākaraṇa* (AD 1388) by Merutuñgasūri,
3. *Kātantrarūpamālā* (15th cent. AD) by Digambar Bhāvasena Traividya,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. *Kātantrabhūṣaṇa* by Dharmaghoṣasūri ,
5. *Vṛttitrayanibandha* (not available) by Rajaśekharasūri,
6. *Kātantravṛttipañjikā* by Somakīrti,
7. *Bālāvabodha* by Harikalash Upadhyaya and
8. *Catuṣkavyavahāraḍhuṇḍhikā* by Dhanaprabhasūri.

[III] **The Jaina commentaries on *Sārasvata-Vyākaraṇa*:**

1. *Dīpikā (Sārasvatavyākaraṇa-Dīpikā)* by Megharatna,
2. *Sārasvata- Vyākaraṇa -Ṭīkā* by Muni Satyaprabodha,
3. *Sārasvatamaṇḍana* (15th cent. AD) by Maṇḍana,
4. *Subodhikā* or *Dīpikā* (AD 1607) of Candrakīrtisūri,
5. *Kriyācandrikā* (AD 1584) by Guṇaratna of Kharatargaccha,
6. *Sārasvatavyākraṇavṛtti* (AD 1566) of Sahajakīrti,
7. *Yaśonandinī* (c AD 17th cent.) by Digambar Yaśonandī,
8. *Śabdārthacandrikā* (17th cent. AD) by Haṁsavijayagaṇi,
9. *Prakriyā-Vṛtti* (17th cent. AD) of Vishalakirti,
10. *Sārasvataprakriyā* of Narendrasūri (only *Kṛdanta Prakaraṇa*),
11. *Sārasvata-Vyākaraṇa-Vṛtti* or *Bhāṣya-Vivaraṇa* (17th cent. AD) by Upadhyāya Bhanucandra,
12. *Sārasvata-Vyākaraṇa-Vṛtti* (17th cent. A D),
13. *Sārasvatadīpikā* by Harṣakīrtisūri,
14. *Rūparatnamālā* (AD 1719) by Muni Nayasundara,
15. *Vidvaccintāmaṇi* or *Vṛddhicintāmāṇi* (18th cent. AD) of Muni Vinayasāgarasūri,
16. *Pañca-Sandhi-Bālāvabodha* (18th cent. AD) of Upadhyaya Rajasi,
17. *Bhāṣāṭīkā* of Muni Ānandanidhāna (18th cent.),
18. *Śabdaprakriyāsādhanī- Saralabhāṣāṭīkā* (20th cent.) by Vijayarajendrasūri,
19. *Śabdacandrikodddhāra* by Kañsavijayagaṇi,
20. *Sārasvataparibhāṣā* of Dayāratna,
21. *Sārasvatavyākaraṇa- Ṭīkā* of Devacandra,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

22. *Sārasvatavyākaraṇa -Ṭīkā* or *Sārasvata-Sāradīpikā Vṛtti* of Yatiśa,
23. *Candrikā* by Muni Meghavijaya,
24. *Sārasvatavyākaraṇa-Ṭīkā* by Muni Dhanasāgara,
25. *Pañcasandhi-Ṭīkā* by Muni Somaśīla,
26. *Tippaṇaka* (AD 1635) by Kṣemendra,
27. *Nyāsa* by Ratnaharṣa and Hemaratna,
28. *Ṭīkā* by Jagannātha,
29. *Pañjikā* by Dharmadeva,
30. *Siddhāntaratna* by Jinendu,
31. *Siddhāntacandrikā* by Jñānatilaka,
32. *Svāvabodhikā,*
33. *Miśraliṅgakośa* and
34. *Miśraliṅganirṇaya, Liṅgānuśāsana* by Kalyāṇasūri.

(IV) The commentaries on *Siddhānta-candrikā-vyākaraṇa*, a non-Jaina commentary by Rāmāśrama or Rāmacandrāśrama on *Sārasvatavyākaraṇa,* has following commentaries:

1. *Subodhinī Vṛtti* (AD 1742) by Sadanandagaṇi,
2. *Aniṭkārikāvacūri* of Muni Kṣamāmāṇikya,
3. *Aniṭkārikā-Svopajñavṛtti* (AD 1612) of Harṣakīrtisūri of Nāgapurīya Tapāgaccha,
4. *Bhūdhātuvṛttiḥ* (AD 1771) of Kṣamākalyāṇa Muni,
5. *Mugdhāvabodha- Auktikaṁ* by Kulamaṇḍanasūri (15th cent. AD),
6. *Siddhāntacandrikā-Ṭīkā* of Jinaratnasūri,
7. *Siddhāntacandrikāvṛtti* of Jñānatilaka,
8. *Subodhinī* by Rūpacandra (18th cent. AD) and
9. *Ṭīkā* by anonymous.

[C-2] The Jaina commentaries on minor non-Jaina works:

1. *Viśrāntavidyādharanyāsa* of Mallavādi (identity not known) on *Viśrānta-Vidyādhara,*
2. *Vākyaprakāśa-Vṛtti* (AD 1450) by Harṣakula on *Vākyaprakāśa,*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. *Vākyaprakāśa-Vṛtti* by Ratnasūri on *Vākyaprakāśa*,
4. *Vākyaprakāśa (Sāvacūri)* (AD 1557) by Jinavijaya and
5. *Śabdaprabhedavyākaraṇa-Vṛtti* of Jñānavimala (AD 1597) on *Śabdaprabhedavyākaraṇa* of Maheśvara.

[D] AuktikaWorks

The works, dealing with the comparison of *Deśya* language with Sanskrit are:

1. *Bālaśikṣā* (AD 1279) by Sañgramasiṁha,
2. *Mugdhāvabodha-Auktika* or *Auktika Sañgraha* (AD 1393) by Kulamaṇḍanasūri (1352-1398 AD),
3. *Auktika or Vākyaparakāśa* (AD 1451) of Udayadharma,
4. *Auktika Avacūri*,
5. *Auktika Ṭīkā*,
6. *Vākyaparakāśavārtā* (AD 1637) by Jinavijaya,
7. *Auktika* commentary by Harṣakulagaṇi,
8. *Auktika* by Somaprabha,
9. *Auktika* by Jinacandra,
10. *Auktika* by anonymous,
11. *Auktika* by anonymous,
12. *Uktiratnākara* (c 1623 AD) of Sādhusundaragaṇi and
13. *Uktipratyaya* of Muni Dhirasundara.

[E] Works on parts of Grammar

This section includes works based on (E-1) *Gaṇapāṭha*, (E-2) *Dhātupāṭha*, (E-3) *Liñgānuśāsanapāṭha*, (E-4) *Kāraka* etc.

(E-1) *Gaṇapāṭha*:

1. Gaṇaratnamahodadhiḥ (AD 1140) by Vardhamāna,
2. Gaṇaratnamahodadhyavacūri by anonymous,
3. *Gaṇaratnamahodadhi-Tīkā* by MM Gangadhar,
4. *Gaṇaratnamahodadhi-tīkā* by Govardhana and
5. *Gaṇaratnāvalī* by Yajñeśvarabhaṭṭa.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(E-2) *Dhātupāṭha:*

1. *Kriyākalāpa* or *Kriyāsamuccaya* by Jinadevasūri (14th cent. AD),
2. *Kriyākalāpa* (in prose) Kanarese and Sanskrit,
3. *Kriyākalāpa* (in verse)
4. *Kriyākalāpa,*
5. *Kriyākalāpa-Ṭīkā,*
6. *Dhātumañjarī* by Siddhacandragaṇi (AD 1597),
7. *Dhātupāṭha* by Harṣakīrti (AD 15 56 or AD 1660),
8. *Dhātutarañgiṇi,* an auto commentary by Harṣakīrti (AD 1556 or AD 1660),
9. *Dhātupārāyaṇa* by Śrutasagar,
10. *Dhātupāṭha* by Kalyāṇakirti,
11. *Dhāturatnākra* (AD 1623) of Sadhusundaragaṇi,
12. *Kriyākalpalatā* (AD1630),
13. *Dhāturūpārtha* in prose Sanskrit & Kanarese,
14. *Dhāturūpāvali,*
15. *Dhātuprakaraṇa,*
16. *Dhāturatnamālā,*
17. *Dhāturatnākaraḥ* (Sanskrit) by Muni Lavaṇyavijaya,
18. *Padavyavasthāsūtrakārikā* (c. AD 16th cent.) by Vimalakīrti,
19. *Padavyavasthāsūtrakārikā-Ṭīkā* (AD 1624),
20. *Aniṭkārikā,*
21. *Aniṭkārikā-Avacūri,*
22. *Aniṭkārikā-Ṭīkā,*
23. *Aniṭkārikā-Vivarāṇa* by Muni Kṣamā-kalyāṇa (18th cent.VS),
24. *Aniṭkārikā* (AD 1605) by Harṣakīrtisūri,
25. *Aniṭkārikā-Ṭīkā* (AD 1606) by Harṣakīrtisūri,
26. *Aniṭkārikā-Ṭikā* by anonymous,
27. *Aniṭkārikāvivaraṇa* by Samayasundara.
28. *Bhūdhātuvṛtti* (AD 1771) of Kṣamākalyāṇa,
29. *Bhūdhātuvṛttisañgraha* by Jinadattasūri,
30. *Rūcādigaṇavṛtti* (AD 1324) by Jinaprabhasūri,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

31. *Rūcadigaṇavivaraṇa* of Sumatikallola,
32. *Rūparatnamālā* by anonymous,
33. *Rūparatnamālā-Ṭīkā* by Nayasundara,
34. *Rūparatnāvalī* by Jinendra,
35. *Rūpasiddhivyākaraṇa* of Dayāpāla, *Rūparatnāvalī-Avacūri,*
36. *Rūpasiddhivyākaraṇa* by anonymous,
37. *Rūpāvatāravyākaraṇa* by Dharmakīrti,
38. *Śabdarūpāṇi* or *Śabdasañcayarūpāṇi* by Amaracandra,
39. *Śabdasādhanikā* and
40. *Śabdarūpāvalī,*

(E-3) Works based on Liñgānuśāsanapāṭha:

1. *Syādiśabdasamuccaya* of Amaracandrasūri,
2. *Syādisubodhā* or *Syādivyākaraṇa* (AD 1479),
3. *Avacūri* called *Syādiśabdadīpikā* of Jayānandasūri.

(E-4) *Kāraka* etc. Besides, a number of works based on *Karaka* are also found.

(F) Jaina works on Sanskrit Grammar in Vernacular languages:

(F-1) Kannada

1. *Karṇāṭaka-Bhāṣābhūṣaṇa* by Nāgavarman II (1042 AD or AD 1145) and its auto -commentary,
2. *Dhātupāṭha* by Keśava and
3. *Ṣabdamaṇidarpaṇa* by Keśirāja.

(F-2) Gujarati

1. *Mugdhāvabodha -Auktika* (AD 1393) by Kulamaṇḍanasūri,
2. *Kārakāṣṭakastabaka* by Kulamaṇḍanasūri,
3. *Sārasvatavyākaraṇa* by Kulamaṇḍanasūri,
4. *Pañcasandhi - Bālāvabodha* or *Sārasvata-vyākaraṇa Bālāvabodha* by Kulamaṇḍanasūri,
5. *Sārasvatavyākaraṇa Saṁjñā Prakaraṇa- Bālāvabodha* by Kulamaṇḍanasūri and
6. *Ṣaṭkārakasvarūpa-Auktika* by Kulamaṇḍanasūri,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(F-3) Tamil

1. *Tol-Kappiyam* by aonymous ,
2. *Nemi-nātam or nādam* (c.13th cent. AD) by Jaina scholar Guṇavira Pandit,
3. *Nan-nul by* the Jaina scholar Pava-nandi (12th cent. AD and
4. *Aga-p- porul- vilakkam* by Nār-Kavi-rāja Nambi and Kriyākalāpa-*Ṭīkā.*

With this the description of of Jaina works on Sanskrit Grammar dealt in this section is completed.

Bibliography:

1. ***Sanskrit Prakrit Jaina Vyākaraṇa Aura Kośa Kī Paramaparā*** ed. Muni Dulaharaja, Chhapar (Raj.) 1977.
2. ***Historical Survey of Ancient Indian Grammars*** (Sanskrit, Pali, Prkarit) (English) by Suresh Candra Banerjee, Delhi 1996.
3. ***Jainācāryon Kā Sanskrit Vyākaraṇa Ko Yogadāna*** (Hindi) by Dr. Prabha Kumari, Delhi.
4. ***Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa* (Volume 5),** ed. Mohanlal Mehta, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi.
5. ***The New Catalogus Catalogorum*** (13 Volumes), Department of Sanskrit, University of Madras.
6. ***Kannad Prantiya Tadapatriya Grantha Soochi,*** ed. Pt. K. Bhujbali Shastri, Sanskrit Grantha No.2, Bharatiya Jnana Pith, Kashi 1948.
7. ***Jinaratnakośa* ,** (Vol. 1, Works) comp. Hari Damodar Velankar, Government Oriental Series Class C No. 4, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 1944.
8. ***Gujarati Sāhityakośa*** (2 Vols.) ed. Jayanta Kothari, Jayanta Gādita & others (Vol.1), Candrakanta Topiwala & others (Vol. 2) Gujrati Sahitya Pariṣad,Ahmedabad 1989, 1990.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यापीठ प्रांगण में

उच्चशिक्षाविदों का बदलता दृष्टिकोण

उच्चशिक्षाविद् अब बच्चों पर विशेष ध्यान दे रहे हैं, क्योंकि आज से बीस वर्ष बाद आज के बच्चे भारत की तस्वीर बदलने में सक्षम होंगे। इसी क्रम में आज २० अक्टूबर २००३ को पार्श्वनाथ विद्यापीठ में राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० सत्यदेव मिश्र ने जे०बी० एकेडमी, फैजाबाद से शैक्षणिक भ्रमण पर निकले लगभग पचास बच्चों से अनौपचारिक मुलाकात में उनके बीच लगभग एक घण्टे का समय व्यतीत किया तथा उनसे खुलकर बातें की एवं उनके विचारों को समझने का प्रयास किया। प्रो० मिश्र और उनकी पत्नी ने इन बच्चों के साथ जलपान भी किया। एक कुलपति से इस प्रकार खुलकर बातें कर बच्चे अद्भुत अनुभव महसूस कर रहे थे। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० महेश्वरी प्रसाद ने 'लक्ष्य-२०२०' को दृष्टि में रखकर इस अनौपचारिक मिलन का आयोजन किया जिससे कि बच्चों को समीप से समझकर भावी स्वप्न को साकार करने के लिये उनको प्रेरित किया जा सके। इस अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ के डा० अशोक कुमार सिंह, डा० शिवप्रसाद, डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डा० सुधा जैन, डा० विजय कुमार, श्री ओम प्रकाश सिंह, डा० सुधीर कुमार राय, सुश्री अर्चना शर्मा, श्री राघवेन्द्र पाण्डेय; जे०बी० एकेडमी, फैजाबाद के शिक्षक श्री के०के० मिश्र, श्री शशांक श्रीवास्तव एवं सुश्री ममता सिंह उपस्थित थे।

फिल्म, टी०वी० व नाट्यशास्त्र पर आयोजित पांच दिवसीय बैठक सम्पन्न

१२ दिसम्बर, वाराणसी। नाट्यशास्त्र, फिल्म एवं टेलीविज़न परिभाषा कोश के हिन्दी में निर्माण के लिए विशेषज्ञों की एक पांच दिवसीय बैठक वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ में ८ से १२ दिसम्बर, २००३ तक सम्पन्न हुई। बैठक मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग नई दिल्ली के तत्त्वावधान में हुई। संगोष्ठी में उपस्थित विशेषज्ञों में थे - डा० महेश्वरी प्रसाद (वाराणसी), डा० टी०डी०एस० आलोक (शिमला), डा० अमरनाथ पांडेय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(वाराणसी), डा० आर०सी० त्रिपाठी (लखनऊ), प्रो० संतोष कुमार तिवारी (बड़ौदा), डा० ए०के०सिंह (वाराणसी), मयंक श्रीवास्तव (गुड़गांव, हरियाणा) और डा० ब्रजेश शर्मा (वाराणसी)। बैठक में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के सहायक वैज्ञानिक अधिकारी डा० संतोष कुमार की समन्वयक के रूप में निभाई गई भूमिका सराहनीय रही। कोश निर्माण के इस कार्य में सभी विद्वानों ने सक्रिय भागीदारी दर्ज़ की। विषय से सम्बद्ध विद्वानों, छात्रों के लिए तो कोश उपयोगी रहेगा ही अन्य जिज्ञासु वर्ग के लिए भी कोश बड़ा सार्थक सिद्ध होगा। आयोग के वैज्ञानिक अधिकारी डा० प्रेम नारायण शुक्ल की संगोष्ठी के दौरान उपस्थिति प्रेरक रही। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक डा० महेश्वरी प्रसाद के सक्रिय योगदान व सहयोग से यह बैठक निश्चित रूप से सफल रही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन जगत

केकड़ी (अजमेर) राजस्थान में विद्वत् संगोष्ठी सम्पन्न

केकड़ी १० अक्टूबर : पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी म० के सुशिष्य श्री सुधासागरजी म० के पावन सान्निध्य में आचार्य रविसेणकृत पद्मपुराण के परिशीलनार्थ दि० ७-९ अक्टूबर को तीन दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। डॉ० विजयकुमार जैन (लखनऊ) के संयोजकत्व में आयोजित इस त्रिदिवसीय संगोष्ठी में सम्पन्न हुए आठ सत्रों में देश के विभिन्न भागों से पधारे कुल ३४ विद्वानों ने अपने-अपने शोध आलेखों का वाचन किया। प्रत्येक आलेख पर विद्वानों ने विस्तृत चर्चा की।

आचार्य नानालालजी म० की चतुर्थ पुण्यतिथि सम्पन्न

कलकत्ता १३ अक्टूबर : श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कोलकाता के भव्य सभागार में स्व० आचार्य नानालालजी म०सा० की १३ अक्टूबर को चतुर्थ पुण्यतिथि मनायी गयी। इस अवसर पर आयोजित धर्म सभा में श्री विजय कुमार जी आंचलिया, श्री जवाहर लाल कर्णावट, श्रीमती कंचनदेवी कांकरिया, श्री रिधकरण बोथरा आदि ने अपने विचार व्यक्त किये। श्री बोथरा के अनुसार उदयपुर में निर्माणाधीन *नानेश ध्यान केन्द्र* के भवन का निर्माणकार्य लगभग पूर्ण हो चुका है।

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री की जन्म शताब्दी समारोह का शुभारम्भ

वाराणसी ५ नवम्बर : भदैनी स्थित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रांगण में सिद्धाताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के जन्म शताब्दी के अवसर पर ५ नवम्बर को एक समारोह का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता डॉ० फूलचन्द जी 'प्रेमी' ने की। अपने उद्‌बोधन में उन्होंने कहा कि प्रातः स्मरणीय पंडितजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज, धर्म, संस्कृति और साहित्य के लिये समर्पित किया। उनका आदर्श व्यक्तित्त्व एवं कृतित्व हम सभी के लिये अनुकरणीय है। इस अवसर पर लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद के निदेशक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ० जीतेन्द्र बी० शाह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के डॉ० मुकुलराज मेहता और प्रौद्योगिकी विभाग के डॉ० एन०के० सामरिया ने पंडितजी के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्व के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि पूज्य पंडित जी एक ओर इस जहां काशी की पाण्डित्य परम्परा के शलाका पुरुष थे वहीं दूसरी उन्होंने प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के कई दुर्लभ ग्रन्थों का सम्पादन एवं राष्ट्रभाषा में अनुवाद करके भारतीय वाङ्मय की सेवा की। इस अवसर पर अन्य वक्ताओं ने भी पण्डितजी के प्रति अपने उद्गार व्यक्त किये।

''स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास'' का विमोचन सम्पन्न

अमृतसर ११ नवम्बर : डॉ० सागरमलजी जैन और डॉ० विजयकुमार द्वारा लिखित एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा मानवमिलन के प्रेरक मुनिश्री मणिभद्र जी 'सरल' की प्रेरणा से प्राप्त आर्थिक सहयोग से प्रकाशित *''स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास''* नामक बृहद्काय ग्रन्थ का लोकार्पण दि० ११ नवम्बर को अमृतसर में सम्पन्न हुआ। श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, अमृतसर के तत्त्वावधान तथा मुनि मणिभद्र जी म०सा० ठाणा ५ के पावन सान्निध्य में आयोजित इस समारोह में केन्द्रीय मंत्री श्री सत्यनारायणजी जटिया ने ग्रन्थ का लोकार्पण किया। इस अवसर पर पंजाब के शिक्षा राज्यमंत्री श्री दरबारीलाल जी तथा समाज के गणमान्यजन उपस्थित थे।

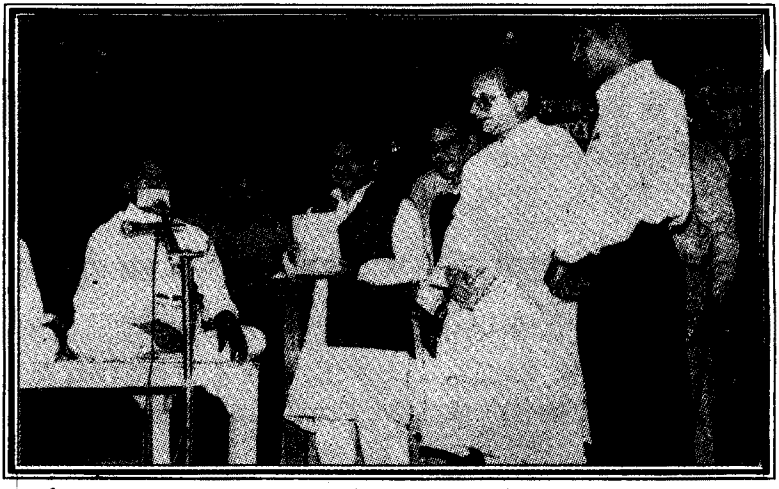

*पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ **'स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास'** का लोकार्पण करते हुए केन्द्रीय मंत्री श्री सत्यनारायण जटिया, मानव मिलन के प्रेरक मुनिश्री मणिभद्र जी महाराज, श्री सुभाष ओसवाल, श्री मंगतराम जैन (बब्बी), ग्रन्थ के लेखक डा० विजयकुमार एवं अमृतसर व्यापार मण्डल के अध्यक्ष श्री अमृतलाल जैन*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ० लालचन्द जैन एवं डॉ० ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार' को आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली के सौजन्य से वर्ष २००० एवं २००१ के *आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार* प्राकृतभाषा एवं जैन विद्या के विद्वान् डॉ० लालचन्द जैन निदेशक, उत्कल सांस्कृतिक विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर एवं डॉ० ऋषभचन्द जैन 'फौजदार' प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली को उनके प्राकृत भाषा एवं जैन साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदानों के लिये प्रदान करने की घोषणा की गयी है।

यह पुरस्कार आगामी १५ जनवरी २००४ को कुन्दकुन्द भारती के प्रांगण में आचार्यश्री के पावन सान्निध्य में प्रदान की जायेगी। इसके अन्तर्गत ५१ हजार रुपये की धनराशि, प्रशस्ति पत्र, प्रतीकचिन्ह आदि प्रदान किये जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य सत्कार

'प्रमाणनयतत्त्वालोक', रचनाकार आचार्य वादिदेवसूरि, गुजराती विवेचन एवं सम्पादन - साध्वी महायशाजी, प्रकाशक - श्री ऊँकार सूरि ज्ञानमन्दिर, सूरत, प्रथम संस्करण - २००३, पृ०सं० ३१+३१२, मूल्य - १००/-

वादिदेवसूरि प्रणीत 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' जैन न्याय का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इस ग्रंथ पर संस्कृत एवं गुजराती में कई टीकाएं उपलब्ध हैं जिनमें वादिदेवसूरि की स्वोपज्ञटीका - 'स्याद्वादरत्नाकर' के अतिरिक्त रत्नप्रभ की 'रत्नाकरावतारिका', रामगोपालाचार्य की बालावबोध टीका तथा पं० मफतलाल का गुजराती विवेचन आदि मुख्य हैं। उपर्युक्त विवेचन - ग्रंथ एवं टीकाएं अपनी दुरूह भाषा के कारण प्राथमिक अभ्यास के लिए अनुपयुक्त हैं। अत: लम्बे समय से, विशेषकर गुजराती भाषा में ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता महसूस की जा रही थी जो जैन - न्याय के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए सुबोधगम्य हो और इस आवश्यकता की पूर्ति पूज्य साध्वी श्री ने अपने प्रस्तुत ग्रंथ से किया है। इस ग्रंथ के कुल ८ परिच्छेदों में ३७९ श्लोक हैं। साध्वी महायशाश्री जी ने इन श्लोकों में गुम्फित जैन न्याय के रहस्यों यथा - प्रमाण के लक्षण, प्रकार, नय, वाद के लक्षण, प्रकार आदि का विशद एवं सुन्दर विवेचन किया है। अपने विवेचन में साध्वी श्री ने न्याय वैशेषिक, बौद्ध, वेदान्त सम्मत ज्ञानमीमांसीय मन्तव्यों का पक्ष-प्रतिपक्ष सहित सुन्दर विनियोग किया है। पुस्तक की भाषा प्राञ्जल एवं शैली सुबोधगम्य हैं। उनके स्तुत्य प्रयास का प्रतिफल प्रस्तुत पुस्तक निश्चय ही जैन न्याय के प्रारंभिक एवं प्रौढ़ विद्यार्थियों के लिए उपादेय सिद्ध होगी।

डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय

Caturnayacakram (Essays in Jaina Philosophy and Religion, Editor - Piotr Balcerowicz, Publisher - Motilal Banarasidass, Delhi, 2002, Price Rs. 495.00

The present title Essays in *'Jaina Philosophy and Religion'* is a collection of sixteen articles contributed by different acclaimed National and International scholars of Jainism, like Muni Jambu Vijaya, Albert Wezier, Jayendra Soni, Piotra Balcerowicz, Emmrich, Kristi L. Wiley, Padmanabh S. Jaini, Kenj Watanabe, Phyllis Granoff, Adelheid Mette,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Luitgard Soni, Colette Caillat, Nalini Balbir and John E. cort. The whole content of the book is divided in four sections i.e. (1) Philosophy & Anekānta, (2) Early Jainism, Buddhism & Ājivikism, (3) Ethics and Monaistic disciplene and (4) Mediaevel Mysitics and Sectarian Divisions, which describe the Jain philosophy of Anekānta as well as the Historical Development of Jainism togather with the relation to Buddhism and Ājīvikas. It also deals with the Jaina System of Ethics and conduct including Social life, monastic rules alongwith the Mediaeval Jaina Literature. Though all articles have equal importance but articles on *Anekānta* are somewhat striking. It explains that how the self contradictory or two opposite charaters live simultuneously in a object. It is all evident from the Jain Literature that Jaina authors like Samantabhadra, Akalaṅka, Vidyānanda, Siddhasena Divākara and Yaśovijaya laid a firm foundation of *Anekāntavāda* and established a grand structure of the philosophy of Non-absolutism. The articles are framed maticulausly which expose the subject concerned clearly. The language is simple and lucide. Motilal Banarasidass descerves for thanks for bringing out such a nice compilation. The book will definitely help the scholars in their serious researches on Jainism.

A study in the Origin and Development of Jainism, Author Dr. S.N. Shrivastava, Published by Rekha Publication, Gorakhpur, First Edition 2002, Pages - 6 + 148, Price - Rs. 325.

Prof. Shrivastava's - *'A Study in the Origin and Development of Jainism'* is a pioneer work in the field of History of the Jaina Religion. Volumes have been come out on the subject but a critical analysis of Jaina Historiography reveals that inspite of several efforts made, many aspects of the Jaina History are not taken into account properly e.g. the evidence related to *Vrātyas*.

Prof. Shrivastava in this present title has succeeded to review the early History of Jainism not only in the light of fresh interpretations of the known facts but also in the light of new emerging facts and their interpretation. He has beautifully discussed the History of Jainism from its beginning to the time of schism of the Jaina order in Śvetāmbara and Digambara. Author's deep insight to the subject, way of disussion, and

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

presentation has made the book valuable and deserves for congratulation. This book will be difinitely useful for the researchers as well as scholars.

Ātmasiddhi : Adhyātma Gīta & Ātmopaniṣad, Author Śrīmad Rājacandra, English translation and transliteration by Shri Manubhai Doshi, Published by Śrimad Rājacandra Ādhyātmika Sādhana Kendra, Koba, Gandhi Nagar (Gujarat) First Edition 2003, Total pages - 17 + 274, Price - Rs. 60.00 (2.00 US$).

Śrimad Rājacandra's *'Adhyātma-siddhi'* is one of the best treatises ever written on Jaina spiritualism. Within the bowel of this book Śrimad has virtually contained the sea of spiritual science. It containes 18 chapters comprising 142 verses originally written in Gujrati script. At the end there are two appendices. The first chapter contains the versified translation of *Ātma-siddhi-śāstra* prepared by Brahmachariji and the second one contains english version of six fundamentals by Śrīmad Rājacandra which is the basis of the *Ātma-siddhi*. Every stanza of the original text is given first in Gujrati script followed by English Transliteration and after that translation.

There are six major theological schools in Indian Āryan culture. Each one is right in his approach in defining the Supreme Reality and each school has some thing offer to another. The six fundamental tanets deal with six schools and *Ātma-siddhi-śāstrā* is representative of all. It is the essence of fourteen *Pūrvas*. As its title suggests, the subject matter of the book is the soul, its existence, bondage and liberation. Śrīmad Rājacandra, who had already achieved the Right perception has presented the subject very beautifully and adequately. Every stanza is full of significance and some of them are most precious jewels of spiritual reals. The language of the learned translator is lucid and impressive. The book is very useful for the scholars as well as lay spiritual seekrs.

Dr. S.P. Pandey

साभार प्राप्त

वीर प्रभुनुं जीवनचरित्र, संपादक - मुनि भव्यदर्शन विजय गणि; प्रथम संस्करण २००३ ई०; भाषा एवं लिपि - गुजराती; प्रकाशक - पू०पं० पद्मविजयजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणिवर जैन ग्रन्थमाला ट्रस्ट, ५, विवेक डुप्लेक्ष, दशापोरवाड़ सोसायटी, पालडी, अहमदाबाद ३८०००७; आकार - डिमाई, पृष्ठ ८+२०८+विभिन्न रंगीन चित्र; मूल्य - पठन-पाठन।

अनेकवार्तानां रहस्यो, संपादक - मुनि भव्यदर्शनविजय गणि; प्रथम संस्करण २००३ ई०; भाषा एवं लिपि - गुजराती; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; पृष्ठ १०+१६६; मूल्य - पठन-पाठन।

नरकतणां दुःख भारी, संपादक - मुनि भव्यदर्शनविजयगणि; प्रथम संस्करण २००३ ई०; भाषा एवं लिपि - गुजराती; प्रकाशक - पूर्वोक्त, आकार - डिमाई; पृष्ठ ८+२४; विभिन्न रंगीन एवं सादे चित्र; मूल्य - पठन-पाठन।

वैराग्यनां गूढरहस्यो, संपादक - मुनि भव्यदर्शनविजय; प्रथम संस्करण २००३ ई०; भाषा एवं लिपि - गुजराती; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; पृष्ठ ६+९०; विभिन्न रंगीन चित्र; मूल्य - पठन-पाठन।

संसारनी मायाजालनां गूढ रहस्य, संपादक मुनि भव्यदर्शनविजय; प्रथम संस्करण २००३ ई०; भाषा एवं लिपि - गुजराती; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; पृष्ठ ४+१०५; विभिन्न रंगीन चित्र; मूल्य - पठन-पाठन।

मननां गूढ रहस्य, संपादक एवं प्रकाशक - नाम अनुपलब्ध; भेंटकर्ता - श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन संघ चंदनवाला ट्रस्ट, अहमदाबाद; आकार - डिमाई; पृष्ठ - ४+२६८; मूल्य - पठन-पाठन।

प्रवचन, प्रवचनकार - मुनि यशोविजय जी (वर्तमान आचार्य विजययशोदेव सूरि); तृतीय संस्करण १९९२ ई०; भाषा एवं लिपि - गुजराती; आकार - डिमाई; प्रकाशक - श्री मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, रावपुरा, कोठीपोल, मंछा सदन, बडोदरा; पृष्ठ ६४; मूल्य - रु० ३.५०।

प्रवचन पुस्तिका - ३, प्रवचनकार - आचार्य विजययशोदेवसूरि; भाषा - हिन्दी; प्रथम संस्करण - १९९३ ई०; आकार - डिमाई; प्रकाशक - पूर्वोक्त, पृष्ठ ५+५१; मूल्य - रु० ५.५०।

ज्ञान की आशातना से बचो, लेखक - आचार्य विजययशोदेवसूरि; भाषा - हिन्दी; प्रथम संस्करण - १९९३ ई०; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; पृष्ठ - २+३०; मूल्य - रु० ३.५०।

श्री शत्रुंजय तीर्थ, लेखक आचार्य विजययशोदेवसूरि; भाषा एवं लिपि - गुजराती; द्वितीय संस्करण १९९३ ई०; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; पृष्ठ - ६-९६; विभिन्न चित्र; मूल्य - रु० १२.००।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धचक्र यंत्रपूजन, एक सर्वेक्षण अने समीक्षा, लेखक - आचार्य विजययशोदेवसूरि; भाषा एवं लिपि - गुजराती; द्वितीय संस्करण १९९३ ई०; प्रकाशक - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; पृष्ठ - १६+१४५; विभिन्न श्वेत-श्याम चित्र; मूल्य - रु० १०.००।

''विजययशोदेवसूरि'' यशोज्जवल गौरव गाथा, भाषा - गुजराती, भाग - १; प्रथम संस्करण १९९६ ई०; प्रका - श्री सिद्धक्षेत्र जैन साहित्य मंदिर, आ x क, पेढी के सामने, तलेटी रोड ...ी ...ा - ३६४२७०; आकार - डिमाई; पृष्ठ ४+२८+३१२+६४ चित्र; मूल्य - रु० २०.००।

आचार्य श्री विजयधर्मसूरि श्रद्धांजलि विशेषांक, संयोजक एवं संपादक - आचार्य विजययशोदेवसूरि; भाषा एवं लिपि - गुजराती; प्रथम संस्करण १९९२ ई०; प्रकाशक - श्री मुक्ति कमल जैन मोहन माला, रावपुरा, कोठी पोल, मंछासदन, बडोदरा (गुजरात); आकार - रायल; पृष्ठ - २८+३७२+२०५+२४ चित्र; मूल्य - रु० ५०.००।

संवच्छरी प्रतिक्रमण की सरल विधि, संयोजक एवं संपादक - आचार्य विजययशोदेवसूरि; भाषा - हिन्दी; प्रथम संस्करण वि०सं० २०४६; प्रका० - पूर्वोक्त; आकार - डिमाई; पृष्ठ - ३२+१४४+अनेक रेखचित्र; मूल्य - रु० १२.००।

जैन पत्र साहित्य, भाग २, संपादक - डॉ० कविन शाह; भाषा एवं लिपि - गुजराती; प्रथम संस्करण २००३ ई०; प्रका० - कुसुम के० शाह, १०३, जीवन ज्योति अपार्टमेन्ट; सी बिल्डिंग, बखारिया बंदर रोड, पोस्ट - वीलीमोरा ३९६३२१ (गुजरात); पृष्ठ - १२+४३०; पक्की जिल्द बाइंडिंग; मूल्य - रु० ११५.००।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

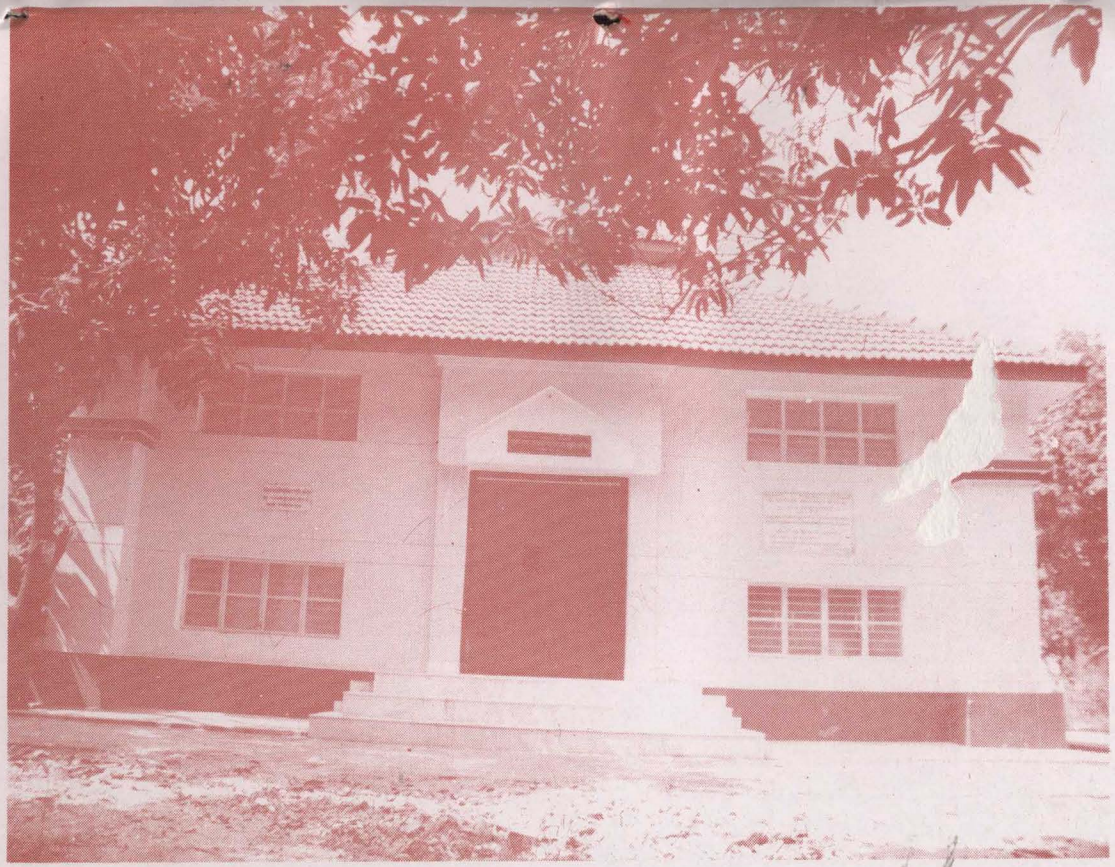

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.

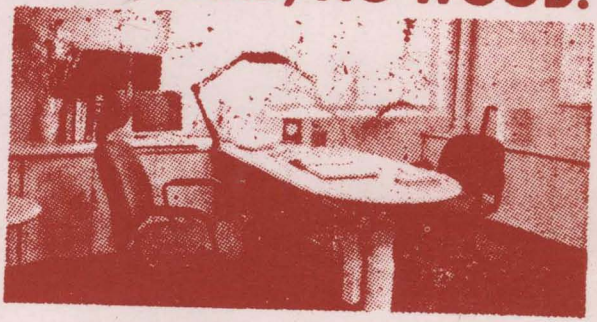

ONLY NUWUD.®

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications

NUCHEM LIMITED

E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones : 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748

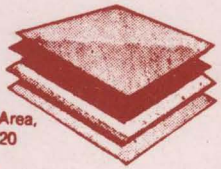

NUWUD MDF

The one wood for all your woodwork

ISI

MARKETING OFFICES: • **AHMEDABAD:** 440672, 469242 • **BANGALORE:** 2219219 • **BHOPAL:** 552760 • **BOMBAY:** 8734433, 4937522, 4952648 • **CALCUTTA:** 270549 • **CHANDIGARH:** 603771, 604463 • **DELHI:** 632737, 633234, 6827185, 6849679 • **HYDERABAD:** 226607 • **JAIPUR:** 312636 • **JALANDHAR:** 52610, 221087 • **KATHMANDU:** 225504, 224904 • **MADRAS:** 8257589, 8275121

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org